फिलिप स्प्रैट
एम. एन. राय

साम्यवाद के पार

साम्यवाद के पार
फिलिप स्प्रैट · एम. एन. राय

वाग्देवी
प्रकाशन,
बीकानेर

भारत अपने इतिहास के एक बड़े संकट काल से गुजर रहा है। स्वाधीनता प्राप्ति के बाद हमारी समस्याएं और कठिनाइयां बहुत बढ़ गयी हैं और वे अधिक जटिल हो गयी हैं। देश में साम्प्रदायिकता ने भयंकर रूप धारण कर लिया है और प्रमुख राजनीतिक दल जिस प्रकार प्रदेशों और केन्द्र में सरकारें चला रहे हैं उससे तो यही प्रतीत होता है कि लोकतन्त्र तथा स्वतन्त्रता की उन्हें चिन्ता नहीं है।

मानवेन्द्रनाथ राय ने इस सारी परिस्थिति का सही पूर्वानुमान किया और राजनीतिक सिद्धान्त और व्यवहार के क्षेत्र में नये रास्तों की तलाश की प्रक्रिया शुरू की थी। अपने इस प्रयास में साध्य और साधन के सम्बन्ध में उन्होंने एक ऐसे राजनीतिक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जो परम्परागत राजनीति की असफलता से खिन्न समाज को मार्गदर्शन और प्रेरणा देगा।

समकालीन संसार को नये आदर्श की आवश्यकता है क्योंकि लोकतन्त्र, फासिज्म और अधिनायकवादी साम्यवाद का असली चेहरा प्रकट हो चुका है। मानवेन्द्रनाथ राय और फिलिप स्प्रैट के विचार इस नये आदर्श की कल्पना और व्याख्या करने के बौद्धिक साहस का साक्ष्य है। यदि नया आदर्श स्थापित नहीं किया जाता है तो वर्तमान शून्य में कुटिलता, भ्रामकता तथा अवसरवाद ही पनपेंगे। 'साम्यवाद के पार' वर्तमान राजनीतिक भ्रमजाल और अवसरवादिता से मुक्ति का एक सार्थक प्रयास है। □

Rs. 45-00 ISBN 81-85127-08-5

वाग्देवी
प्रकाशन,
बीकानेर

साम्यवाद के पार

फिलिप स्प्रैट
एम. एन. राय

साम्यवाद के पार

वाग्देवी प्रकाशन, बीकानेर

साम्यवाद के पार

फिलिप स्प्रैट · एम० एन० राय

अनुवाद : चन्द्रोदय दीक्षित

© दी इण्डियन रिनेसाँ इन्स्टीट्यूट

प्रथम संस्करण : 1987

मूल्य : पैंतालीस रुपये मात्र

आवरण : चेतनदास

प्रकाशक :
वाग्देवी प्रकाशन
सुगन निवास, चन्दन सागर
बीकानेर-334 001

मुद्रक :
सांखला प्रिन्टर्स
चन्दन सागर, बीकानेर

ISBN 81-85127-08-5

SAMYAVAD KE PAR (*Political Thought*) by Philip Sprait-M. N. Roy
Rs. 45-00

भूमिका

भारत अपने इतिहास के एक बड़े संकटकाल से गुजर रहा है। एक ओर अंग्रेजी सत्ता भारत से वापस जा रही है, और दूसरी ओर देश से विदेशी शासन के तेजी से समाप्त होने पर देश में स्वस्थ लोकतन्त्र का विकास नहीं हो रहा है। स्वाधीनता की दहलीज पर पहुंचने पर हमारी समस्याएं और कठिनाइयां बहुत बढ़ गयी है और वे अधिक जटिल हो गयी हैं। देश में साम्प्रदायिक विरोध ने भयंकर रूप धारण कर लिया है और दो प्रमुख राजनीतिक दल जिस प्रकार प्रदेशों और केन्द्र में सरकारें चला रहे हैं उससे तो यही प्रतीत होता है कि वे अधिनायकवाद और प्रभुत्व स्थापना के लिए प्रयत्नशील हैं और लोकतन्त्र तथा स्वतन्त्रता की उन्हें चिन्ता नहीं है। अत: यद्यपि ब्रिटेन के प्रधानमंत्री ने भारत को जून, 1948 से पूर्व सत्ता हस्तांतरित करने का वचन दिया है, तथापि भारत के विचारशील लोगों का भविष्य के प्रति आशान्वित होना असम्भव है।

इस परिस्थिति में यह स्पष्ट है कि आगे आने वाले महीनों में हम क्या करते हैं, उसका प्रभाव हमारा भविष्य निर्धारित करेगा। अत: आज यह आवश्यक है कि हम भारतीय राजनीति का अध्ययन आलोचनात्मक और उत्तरदायी ढंग से करें और हमारी भावना कठमुल्लापन और असहनशीलता से मुक्त हो। आज की तेजी से बदलती परिस्थिति में विचारों और कार्यों की पुरानी आदतें अनुपयोगी हो गयी हैं। कुछ समय पहले जो बातें सार्थक और उचित थीं वे अब एकदम समयानुकूल नहीं रह गयी हैं। इस समय हमें साहसपूर्वक बिना अनुपालक के रूप से कठोरता से विवेकशील' दृष्टिकोण अपनाना चाहिए।

जो लोग राजनीतिक सिद्धान्त और व्यवहार के क्षेत्र में नये रास्तों को ढूंढ़ने की आवश्यकता स्वीकार करते हैं, उन्हें वर्तमान पुस्तक में परिभाषित रेडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी के स्फूर्तिदायक विचार और कार्यक्रम सार्थक प्रतीत होंगे। आज की राजनीतिक स्थिति चाहे जितनी जटिल और भ्रामक हो, यह निर्विवाद सत्य है कि रेडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी ने उसको स्पष्टता से देखा है और उसके सम्बन्ध में सही अनुमान किया है। भारत में अन्य किसी राजनीतिक विचारधारा की ओर से ऐसा दावा नहीं किया जा सकता है। इस विकासक्रम का अनुमान करने के कारण पार्टी की ओर से परिस्थिति का सामना करने का प्रयास किया जा रहा है। अपने इस प्रयास

में साध्य और साधन के सम्बन्ध में राजनीतिक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जो परम्परागत राजनीति के असफल होने से खिन्न लोगों को मार्गदर्शन और प्रेरणादायक होगा।

भारत में विभिन्न राजनीतिक विचारधाराओं के निष्पक्ष विचार में यह सबसे बड़ी बाधा है कि भारत के मुख्य समाचार-पत्रों में अलोकतान्त्रिक और अनुदार दृष्टिकोण का प्रभाव है। इस बात को समझना चाहिए कि भारत के समाचार-पत्र देश के प्रमुख धन्नासेठों के स्वामित्व में हैं और उनमें समाचारों और विचारों को जिस प्रकार प्रकाशित किया जाता है उससे व्यक्तिगत रूप से निर्णय करने के मार्ग में विश्वासघाती बाधा पड़ती है। रेडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी के कार्यकलापों को समाचार-पत्रों में प्रकाशित नहीं किया जाता है और जब कभी कुछ प्रकाशित भी होता है तो वह भ्रामक और झूठा होता है।

फासिज्म की पराजय से तो मुक्तिदायक प्रभाव आज भारत में अनुभव किया जाता है, लेकिन यह कौतूहलपूर्ण है कि रेड्डिकल डेमोक्रेटिक पार्टी द्वारा युद्ध के सम्बन्ध में जो नीति अपनायी गयी थी उसके सम्बन्ध में अब भी काफी भ्रम प्रकट किया जा रहा है। द्वितीय महायुद्ध के आरम्भ में भारत के सभी राजनीतिक दलों ने चाहे वे दक्षिण पंथी थे अथवा वामपंथी, युद्ध का विरोध इस आशंका के आधार पर किया था कि युद्ध में ब्रिटेन की विजय से ब्रिटिश साम्राज्यवाद शक्तिशाली बनेगा और भारत की गुलामी की बेड़ियां मजबूत होंगी। रेडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी के संस्थापकों ने इसके विपरीत यह घोषणा की थी कि फासिज्म का विरोध करने की प्रतिक्रिया में ब्रिटिश साम्राज्यवाद का समाप्त होना निहित है और सभी ईमानदार लोकतंत्र समर्थकों का यह कर्त्तव्य है कि वे इस प्रक्रिया में सहायक बनने के लिए युद्ध प्रयासों का समर्थन करें और इस प्रक्रिया में बाधा डालने से फासिज्म में वे सहायक ही बनेंगे। अब यह समझना आसान होना चाहिए कि रेडिकल नीति की सत्यता की पुष्टि इतिहास ने की है। 1938 में ब्रिटिश साम्राज्यवाद जितना शक्तिशाली था वह 1947 में उतना शक्तिशाली नहीं रह गया है। इसके विपरीत वह समाप्त हो रहा है और भारत का विदेशी शासन भी शीघ्र समाप्त होने जा रहा है। फासिस्ट विरोधी युद्ध की परिणति से ही यह सम्भव हो रहा है वह भारतीय राष्ट्रवादी नेताओं के दिगभ्रमित प्रयासों का फल नहीं। युद्ध के निर्णायक वर्षों में अकेले रेडिकल लोगों ने स्वतन्त्रता और लोकतन्त्र के लिए संघर्ष किया था।

रेडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी ने युद्ध की समाप्ति पर भारत से विदेशी शासन की समाप्ति को भविष्यदृष्टा के रूप में देखा था, लेकिन उसे इस बात का भ्रम नहीं था कि इसके बाद देश में अपने आप लोकतंत्र की स्थापना हो जायेगी। रेडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी का यह अनुमान था कि विदेशी शासन के समाप्त होने पर राजनीतिक सत्ता जनता के पास नहीं पहुंचेगी वरन् उच्च वर्गों की शक्तिशाली राजनीतिक पार्टियां उस पर कब्जा कर लेंगी और लोकतंत्र के झीने आवरण में अधिनायकवादी शासन की स्थापना कर लेंगी। समसामयिक अनुभव से यह प्रकट हो रहा है कि भारतीय राजनीति में सत्ता पाने के लिए लालायित प्रभावशाली शक्तियां लोकतंत्र विरोधी झूठे वायदे करने वाली और अधिनायकवादी प्रवृत्ति की हैं।

यह रेडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी के राजनीतिक दृष्टिकोण की सत्यता प्रमाणित होने के कारण है कि भारत के करोड़ों लोगों के भाग्य के प्रति चिन्तित लोग जो देश की बड़ी राजनीतिक पार्टियों के व्यवहार को उचित नहीं मानते हैं, वे रेडिकल पार्टी की नीतियों की ओर आकर्षित हो रहे हैं। पाठकों को इस पुस्तक में रेडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी के उद्देश्यों और आदर्शों का विस्तृत सर्वेक्षण मिलेगा। पार्टी द्वारा वर्तमान राजनीतिक स्थिति की समीक्षा और हमारी समस्याओं को सुलझाने के लिए पार्टी द्वारा प्रस्तावित साधनों की व्याख्या मिलेगी।

रेडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी का तीसरा अखिल भारतीय अधिवेशन बम्बई में 26 से 29 दिसम्बर, 1946 तक हुआ। इस अधिवेशन का सामान्य अधिवेशन से अधिक महत्व है। इस अधिवेशन में उन दार्शनिक और राजनीतिक सिद्धान्तों का पहली बार प्रतिपादन किया गया है जो रेडिकल डेमोक्रेट लोगों के सामाजिक आदर्श और राजनीति में केवल फूहड़ तरीके से सत्ता हथियाने के लिए प्रयत्नशील नहीं हैं बल्कि जो राजनीति में गम्भीरतापूर्वक हिस्सा लेना चाहते हैं। राजनीति सामाजिक जीवन का हिस्सा है अतः राजनीतिक आदर्श और व्यवहार में पारस्परिक सम्बन्ध होना चाहिए। इसका महत्व एक दूसरे से ही सम्बन्धित नहीं है वरन् उसका सम्बन्ध जीवन सत्ता के समग्र दृष्टिकोण से सम्बन्धित है और उनमें मानव के आधारभूत गुणों, समाज में व्यक्ति के स्थान और इतिहास तथा विकास क्रम पर विचार करना शामिल है। अपने आधारभूत दर्शन को निश्चित करके और उसके आदर्शों और साधनों की व्याख्याओं को समझ करके कोई राजनीतिक दल श्रद्धा और विश्वास के साथ आगे बढ़ सकता है। आज समस्त समसामयिक संसार को ऐसे नये आदर्श की आवश्यकता है, क्योंकि नये अनुभवों ने विभिन्न राजनीतिक सिद्धान्तों को अविश्वसनीय बना दिया है। लोकतन्त्र, फासिज्म और अधिनायकवादी साम्यवाद बदनाम हो चुके हैं। यदि नया राजनीतिक आदर्श स्थापित न किया गया तो वर्तमान शून्य में कुटिल, रहस्यवाद अथवा अवसरवाद ही पनपेगा। ऐसी स्थिति में रेडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी ने इस अधिवेशन में रेडिकल लोकतन्त्र के सिद्धान्तों को मूर्तरूप प्रदान किया है।

आशा है कि प्रस्तुत पुस्तक में पाठकों को विचारोत्तेजक और प्रेरणादायक सामग्री मिलेगी।

30, फैज बाजार, दिल्ली
मई 1, 1947

—वी. एम. तारकुंडे

अनुक्रम

1. हमारे युग का संकट	:	9
2. गांधीवाद और रेडिकलवाद	:	25
3. नये दर्शन की ओर	:	31
4. भौतिकवाद और कट्टर मार्क्सवाद	:	43
5. इतिहास से रेडिकलवाद का समर्थन	:	60
6. मार्क्सवाद और रेडिकलवाद	:	70
7. कम्युनिज्म से आगे—नवमानववाद की ओर	:	86
परिशिष्ट		
1. रेडिकल डेमोक्रेसी (उग्र लोकतंत्र)	:	111
2. रेडिकल डेमोक्रेसी के सिद्धान्त	:	112
3. लेखकों का परिचय	:	121

एक

हमारे युग का संकट

यह भयंकर समय है। मैं इस बात को शान्तिपूर्वक कह सकता हूं लेकिन आप में से बहुतों के लिए उसका अर्थ बहुत महत्त्वपूर्ण है। पिछले कुछ महीनों में आप में से बहुतों ने सड़कों पर खून देखा है। आपने देखा कि लोगों को छुरा भौंका गया अथवा उन्हें गोली से मार दिया गया। आपने देखा कि घबड़ाहट क्या होती है। आप जानते हैं कि जब दैनिक जीवन की व्यवस्था खत्म हो जाती है और जब सामाजिक व्यवस्था काम करना बन्द कर देती है तब कैसी हालत होती है। हम एक सामाजिक व्यवस्था को नष्ट होता हुआ देख रहे हैं। क्रान्तिकारियों के रूप में हमसे सामाजिक व्यवस्था के विनाश का स्वागत करना अपेक्षित है। क्रान्तियाँ विनाश के समय शुरू होती हैं। लेकिन हम ऐसा नहीं समझते, यह हमारी क्रान्ति की योजना के अनुकूल नहीं है। हम वैसा ही अनुभव करते हैं जैसा नाजियों के सत्ता में आने के समय वामपंथी लोगों ने वहां अनुभव किया होगा। साम्प्रदायिकतावाद समाज के लिए एकदम असंगत है। हम जिन चीजों को महत्त्व देते हैं उनसे इसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। अन्ततः क्रान्ति के लिए विनाशकारी होना अवश्यम्भावी नहीं है। हमारे युग से जो क्रान्ति विनाश का रूप लेती है उसका अन्त प्रतिक्रिया में होना असम्भव नहीं है। यह स्पष्ट है कि साम्प्रदायिक हिंसा से सैनिक प्रतिक्रिया के शासन को लाने में सहायता मिलती है।

वर्षों से हम यह तर्क देते रहे हैं कि भारतीय राष्ट्रवाद में फासिज्म के तत्व विद्यमान हैं और यदि उसके हाथ में सत्ता आ जायेगी तो वह तेजी से फासिज्म का नंगा रूप ग्रहण कर लेगी। मैं यह कह सकता हूँ कि कुछ महीनों में ही जब से राष्ट्रवादियों के हाथ में सत्ता आयी है, उनके आचरण से हमारी आशंका सही साबित हुई है। जिस सहकारी राज्य का वायदा किया गया था उसकी ओर प्रगति नहीं हुई है। इसके विपरीत राष्ट्रीय पूंजीवाद की आर्थिक नीति को अपनाया गया है, औद्योगिक श्रमिक विवाद सम्बन्धी कड़ा कानून बनाया गया और जमींदारी व्यवस्था को खत्म करने के वायदे को पूरा नहीं किया गया है। दक्षिण भारत में जहाँ से मैं आ रहा हूँ वहां मद्य

निषेध, हिन्दी और खादी में ध्यान बँटा हुआ है। हमें अपने विश्लेषण को बदलने की आवश्यकता नहीं है। भारतीय राष्ट्रवाद, अधिकांश रूप में, बिना समझे ही वह ऐसे आर्थिक निहित स्वार्थों के प्रभाव में है जिसके पिछड़ेपन के विचार उसे फासिज्म की ओर ले जाते हैं। साम्प्रदायिक बंटवारे से भी इस विश्लेषण में कोई अन्तर नहीं आता, लेकिन साम्प्रदायिक संघर्ष के स्थान पर जो वैकल्पिक विकास हो रहा है उसमें घटनाक्रम में तेजी आ सकती है।

इस समय जो उपद्रवी संघर्ष हो रहे हैं उनका न होना असम्भव नहीं था। ब्रिटिश मंत्रिमण्डलीय मिशन द्वारा प्रस्तुत राज्यों के समूह बनाने की योजना से शान्ति-पूर्ण समझौते की सम्भावना थी, जिसे दोनों पार्टियों ने अलग-अलग समय पर कुछ अन्तर से स्वीकार किया था। वास्तव में यदि वे शान्ति का समर्थन करना चाहते तो उसी आधार पर अब भी समझौता कर सकते हैं। इस प्रकार के समझौते से वर्तमान परिस्थिति में सम्भव स्थायी पूँजीवादी व्यवस्था स्थापित हो सकती है। एक तीसरा विकास यह हो सकता है कि मुस्लिम लीग वैधानिक विपक्ष की भूमिका का निर्वाह करे और दूसरे अल्पसंख्यकों का सहयोग लेने का प्रयास करे। अल्पसंख्यकों के हित अब तक लोकतंत्र के हितों के अनुरूप हैं और यदि लीग जैसी शक्तिशाली संस्था लोकतंत्र की ओर बढ़े तो इसे विकास का अच्छा लक्षण कहा जायेगा। जो भी हो अल्पसंख्यकों के हित लोकतंत्र के हितों का हिस्सा हैं और यदि लीग के नेता इस ओर आगे बढ़ें तो अच्छा होगा अन्यथा उसमें गम्भीर दोष उमड़ेंगे।

भारतीय लोकतंत्र में मुस्लिम लीग प्रभावशाली नहीं होगी और न लघु सीमाओं में संगठित अल्पसंख्यकों की अन्य संस्था ही प्रभावशाली हो सकेगी क्योंकि मुस्लिम लीग की स्थिति अन्य अल्पसंख्यकों से भिन्न है। मुसलमान अपने को अल्पसंख्यक से अधिक मानते हैं। उनका कहना है कि वह एक राष्ट्र हैं। इससे यह प्रकट होता है कि उनके आन्दोलन की आशंका बहुसंख्यक शासन के भय से अधिक है। उन्हें बहुसंख्यक से भय है, उनकी अधिक आबादी, धन-सम्पत्ति और योग्यता-कौशल से भय है। उन्हें दमन की आशंका है जो उचित हो सकती है। लीग साधारण मुसलमानों के हितों की अभि-व्यक्ति करती है और उनसे हमारी सहानुभूति होनी चाहिए। उनके आन्दोलन के पीछे उनकी क्या आकांक्षा है वह अलग बात है। वह केवल उच्च वर्गों के मुसलमानों के हितों को व्यक्त करती है जिन्हें अलग राज्य की स्थापना से लाभ हो सकता है। यदि उसका देश के विभाजन का लक्ष्य पूरा हो जायेगा तो उससे साधारण वर्ग के लोगों की गरीबी बढ़ेगी अर्थात् मुसलमान जनसाधारण,

जो ज्यादातर गरीब हैं, उनकी हालत खराब होगी, जिनसे धर्म के आडम्बर और अलग राष्ट्र की स्थापना की चकाचौंध के आधार पर विभाजन का समर्थन करने की अपील की जाती है। इस विवाद से सम्प्रदायवादी मुसल-मानों और दूसरे अल्पसंख्यकों की स्थिति में बहुत अन्तर आ जाता है। अन्य अल्पसंख्यकों को केवल अपने हितों की रक्षा की चिन्ता है। अतः उनमें समझौता होने की सम्भावना नहीं हैं। मुसलमानों का आन्दोलन वैसा ही राष्ट्रवादी है जैसा हिन्दुओं का आन्दोलन है। मुसलमानों का आन्दोलन कम फासिस्टवादी है क्योंकि मुसलमानों में पूंजीवादी कम विकसित है और मुसलमानों की सामाजिक व्यवस्था हिन्दुओं की अपेक्षा कुछ अधिक लोक-तांत्रिक है।

मुसलमानों की साम्प्रदायिकता की महत्त्वाकांक्षाएं राष्ट्रीय आन्दोलन की भांति हैं अतः हमारा यह मानना है कि दोनों का एकमत होना असम्भव है। यदि उनमें एकमत हो सकता है तो वह ऐसे समझौते से ही सम्भव है जैसा कि राज्यों के समूह बनाने की योजना में निहित है । यह योजना पैशाचिक नही है जो सम्प्रदायों को लगातार लड़ाती रहे जैसा कि कम्युनिस्ट दोस्तों की ओर से कहा जा रहा है। यह अथवा इसके अनुरूप योजना के आधार पर दोनों सम्प्रदायों में समझौता हो सकता है और उनके वर्तमान नेतृत्व में निहित स्वार्थी लोगों की आकांक्षाएं प्रकट होती हैं। यदि इस समझौते को किया गया तो उससे दोषपूर्ण राज्य का ढांचा बनेगा । इस प्रकार का राज्य भारत में पूँजीवादी विकास की योजना बनाने के अयोग्य होगा और उसमें फासिस्ट शासन को प्रभावशाली बनाने की क्षमता नहीं होगी ।

कुछ समय से हम भारत की स्थिति का जैसा विश्लेषण करते रहे हैं, उसी अर्थ में हम निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि यदि भारतीय पूंजीवाद के हाथ में सत्ता आयेगी तो वह फासिस्ट अर्थव्यवस्था और राज्य की स्थापना करेगी, लेकिन साम्प्रदायिक विभाजन से उसकी इस प्रकार की क्षमता कम हो सकेगी । यह स्पष्ट है कि शासक वर्गों में विभाजन से उनमें कमजोरी आयेगी। पहले भी इससे सत्ता के लिए संघर्ष में कमजोरी आयी थी। लेकिन जब तक दो सम्प्रदायों में समझौते के रूप के सम्बन्ध में लड़ाई रहती है तो उनमें कमजोरी नहीं आती है। इस प्रकार के संघर्ष से उनकी शक्ति बढ़ती है। हमारे कुछ सदस्यों का कहना है कि नेताओं के व्यवहार से दोनों दलों के साधारण लोगों में निराशा बढ़ी है। मुझे भी ऐसी आशा है लेकिन मुझे ऐसे संकेत नहीं दिखाई दे रहे हैं। पिछले साम्प्रदायिक दंगों से पहले प्रतिक्रिया-

वादी शक्तियां इतनी मजबूत नहीं थीं। दूसरे देशों के राष्ट्रीय युद्धों में ऐसे अनुभव सामने आये थे। सन् 1914 में लेनिन ने यह नारा लगाया था, 'समुदायों के युद्धों को वर्ग युद्धों में बदल दो', इस प्रकार के नारों को व्यवहारिक रूप देना बड़ा कठिन होता है। साम्प्रदायिक लड़ाई जितनी तेज होती है उससे सम्बन्धित जनता भी अपने-अपने पक्ष के प्रभाव में अधिक आ जाती है। यह तर्कसंगत है क्योंकि वे जानते हैं कि जो जितने समय तक संघर्ष में टिका रहता है विजय उसी की होती है। मुसलमान जनता को प्रतिगामी हिन्दुओं की विजय से हानि होगी अत: वे अपने हित को छोड़ने के लिए तैयार नहीं होंगे। हिन्दू जनता का हित इस संघर्ष में है और कई पीढ़ियों से वे राष्ट्रवादी प्रचार से प्रभावित रहे हैं। उनका विश्वास है कि सफलता उनके हाथ नहीं लगने वाली है।

यह बात तब तक सत्य रहेगी जब तक कि हिंसा को नियंत्रित रखा जा सकेगा जिससे सामाजिक ढांचा एकदम नष्ट न हो जाय। जब लोगों की बड़ी संख्या में हत्याएं होती हैं तो सभी नियंत्रण खत्म हो जाता है, व्यापार ठप्प हो जाता है और भुखमरी फैलना शुरू हो जाती है। उस दशा में यदि उस समय तक कुछ लोग बचें तो उनमें भी निराशा होती है। उनकी नीति तनाव बनाये रखने की होती है। कभी एक स्थान पर और कभी दूसरे स्थान पर समय-समय पर झगड़े होते रहते हैं और उनको उस सीमा तक नहीं ले जाया जाता कि सामाजिक ढांचा ही नष्ट हो जाय। ऐसी स्थिति में साम्प्रदायिक ताकतों का प्रभाव सबसे मजबूत रहता है।

साम्प्रदायिक प्रश्न के सम्बन्ध में हमारी तात्कालिक नीति वही है जो समाजवादी आन्दोलनों की परम्पराओं के अनुसार है। हम जनता को यह बतलाते हैं कि यह झगड़ा उनका नहीं है। उनका खून बहाया जाता है और दूसरी ओर के निर्दोष लोगों का खून तीसरे पक्ष के हित में बहाया जाता है। सभी सम्प्रदायों के शान्तिप्रिय लोगों को शान्ति के लिए संगठित किया जाना चाहिए, जिससे अल्पसंख्यक गुंडे जो लड़ते हैं उनको और उन दंगों को उकसाने वालों तथा उन किराये पर लोगों को लड़ाने वाले धनी लोगों को शान्त किया जा सके। यदि एक बार बहुसंख्यक शान्तिप्रिय जनता को संगठित कर लिया जाय तो उनसे सम्बन्धित दूसरे मामलों में भी उनको सक्रिय किया जा सकता है। मुख्य बात यह है कि जनता को उनके सामान्य हितों की ओर आकृष्ट किया जाय और उन्हें भावनाओं से ऊपर उठाकर हितों को उनके सामने रखा जाय। भावनाओं को नियंत्रित करके लोगों को शान्ति के लिए तैयार किया जा सकता है। यह बात सभी लोगों को

भलीभांति मालूम है कि अमीर लोग पीछे रहते हैं और गरीब लोगों को आगे ढकेल कर उनसे अपना मनसूबा पूरा कराते हैं। सामान्य जनता को उनके हितों के लिए जागृत करने की काफी गुंजाइश है। जैसा कि मैंने कहा, साम्प्रदायिक तत्वों को शीघ्रता से नियंत्रित करना आसान नहीं है, लेकिन यदि वर्तमान स्थितियां बनी रहती हैं तो अन्ततः इसे करना ही पड़ेगा।

इस नीति के प्रतिकूल कांग्रेस और लीग क्रमशः राष्ट्रवादी और धार्मिक भावनाओं की अपील करके शान्ति स्थापना की बातें करते हैं। लेकिन इस प्रकार से स्थायी शान्ति होने की सम्भावना नहीं है। कम्युनिस्ट पार्टी का दृष्टिकोण भी कुछ खास अच्छा नहीं है। वे दोनों राष्ट्रवादी पार्टियों से संघर्ष करने का आह्वान करते हैं। उनका शास्त्रीय वाक्यांश है—'संगठित होकर अंग्रेजों से संघर्ष करो।' वे दोनों पक्षों के सम्पत्तिशाली निहित स्वार्थों और राजनीतिक नेताओं से शान्ति की बात नहीं करते, लेकिन वे इसकी जिम्मेदारी अंग्रेजों पर डालते हैं। अतः हमारी अपील दोनों पार्टियों के उन समझदार लोगों से है। समस्या के हल के लिए भी यही नीति सही है।

कांग्रेस और लीग के वैधानिक सुझाव एक दूसरे से भिन्न हैं। उनमें से कोई भी ठीक नहीं है। उसके प्रतिरोध से अलग, उनसे उत्तेजना बढ़ेगी और विभाजन से पाकिस्तान क्षेत्र की आर्थिक दृष्टि से तब तक हानि होगी जब तक कि हिन्दुस्तान के तात्कालिक और निरन्तर सहयोग के द्वारा उसे रद्द न कर दिया जाय। लीग ने जनता को यह बताने से इन्कार कर दिया है कि वह पाकिस्तान को लेकर क्या करेंगे। इस बात का विश्वास करने का कोई कारण नहीं मालूम होता कि आरम्भ में वहां की आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था हिन्दुस्तान से भिन्न होगी। वह परम्परागत पूंजीवादी लोकतंत्र होगा जिसकी जड़ें मजबूत नहीं होगी और वह स्थायी रूप से प्रतिक्रियावादी अथवा गतिशील फासिज्म के रूप में बदल जायेगा। यद्यपि इस बात की भी सम्भावना है कि लोकतांत्रिक और समाजवादी भावनाएं तेजी से फैलें। हिन्दुस्तान का भविष्य जैसा कांग्रेस बनाने का प्रस्ताव कर रही है वह अधिक निश्चयात्मक और समझौता विरोधी है। इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि संविधान सभा से कांग्रेस लोकतंत्र बन जायेगा जब तक कि संविधान सभा को बदल न दिया जाय। वह जिस प्रकार से काम कर रही है उसे हम देख रहे हैं और आगे जैसे काम करेगी उससे भी कोई प्रेरणाप्रद आशा नहीं बंधती है। हमें इस बात की आशा नहीं है कि संविधान सभा, हमारे सामने जैसा संकट है, उसकी गम्भीर समस्याओं को सुलझाने में सफल होगी। अगर, अन्त में साम्प्रदायिक समझौता हो जाता है, जैसा भी खराब वह है, उससे जो

समझौता होगा वह कुछ अर्थों में अधिक खराब होगा । उसकी आर्थिक व्यवस्था पूंजीवादी होगी और केन्द्रीय सरकार के हाथ में इतनी शक्ति नहीं होगी कि पूंजीवाद कुछ भी रचनात्मक कर सकने में सार्थक हो सके अथवा सफलतापूर्वक फासिस्ट ही बन सके । मैं अच्छे उपसंहार की आशा नहीं कर सकता और वह हल अधिक दिन नहीं चलेगा ।

प्रतिक्रियावादी पार्टियों की ओर से अनिश्चित अथवा निश्चित प्रस्तावों के विपरीत हमने अपनी नीतियों को विस्तृत रूप से प्रकाशित किया है जिनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि यदि सत्ता हमारे पास आयी तो हम उन नीतियों को कार्यान्वित करेंगे । मैं इसके लिए कोई विशेष महत्त्व लेने का दावा तो नहीं करता लेकिन इतना अवश्य कहना चाहूंगा कि राजनीति को उचित रूप से चलाने का यह सही रास्ता है और जो राजनीतिक दल जनता को अपनी नीतियाँ बिना बताये सत्ता माँग रहे हैं उनके सम्बन्ध में कुछ सन्देह पैदा हो सकता है । यह बात अन्य सभी दलों पर लागू होती है जिनकी मैंने चर्चा की है और संविधान सभा में क्या होगा, उस पर भी यह लागू होती है । यह बात विशेष रूप से मुझे अपवाद-सी लगती है कि जनमत को जाने बिना संविधान सभा अपना काम शुरू करने जा रही है । पाकिस्तान के मसले को छोड़कर अन्य किसी विषय में जनता में विचार-विमर्श नहीं हुआ है और यह मसला मामूली है । वास्तव में साम्प्रदायिक झगड़ों में उग्र-प्रतिक्रियावादियों की शक्ति राजनीतिक दलों और सरकार में बढ़ी है, उसी भाँति महत्वपूर्ण सांविधानिक प्रश्नों को नजर अंदाज करके निहितस्वार्थी तत्वों के प्रवक्ताओं को संविधान में पुरानी पद्धति के और अनुपयोगी सुझाव संविधान के प्रस्तावों को रखने का अवसर प्रदान किया है ।

हमने यह सुझाव दिया था कि सभी प्रमुख विचारधाराओं और पार्टियों की ओर से संविधान का मसविदा तैयार कराके सरकार को उसे जनता के सामने रखना चाहिए और उसके सम्बन्ध में न्यूनतम रूप से प्रचार करा के जनमत ग्रहण करना चाहिए । यह राजनीतिशास्त्र की पुस्तकों में संविधान सम्बन्धी वर्णित विवरण के अनुरूप नहीं है, लेकिन हमें यह याद रखना चाहिए कि यह 18वीं शताब्दी नहीं है वरन् बीसवीं शताब्दी है । फ्रांस में कुछ महीनों के भीतर ऐसा ही कुछ होने वाला है । फिर यहाँ ऐसा क्यों नहीं हो सकता ? मैं समझता हूँ कि संविधान के प्रश्नों के सम्बन्ध में जिस प्रकार के समझौते का प्रयास किया जा रहा है, उसका हमें विरोध करना चाहिए ।

मेरा अभिप्राय यह भविष्यवाणी करना नहीं है कि संविधान सभा जो संविधान तैयार करेगी वह स्पष्ट रूप से प्रतिक्रियावादी होगा । लेकिन मैं

आपका ध्यान प्राचीन भारतीय दर्शन के उस सिद्धान्त की ओर दिलाना चाहूँगा जिसमें समस्त दृश्यमान को एक संज्ञा दी गयी है, मेरा आशय 'माया' से है । कांग्रेस के पिछले दिनों हुए अधिवेशन का उदाहरण दिया जा सकता है । कांग्रेस अध्यक्ष का भाषण पूर्ण रूप से गांधीवादी था और उसके प्रस्ताव 'राजनीतिज्ञतापूर्ण' थे । मुझे इस बात में सन्देह नहीं है कि कांग्रेस ने तनाव की स्थिति में जिस प्रकार का उत्तरदायित्व और संयम दिखाया है उससे बाहर के देशों में अच्छा प्रभाव पड़ेगा । लेकिन उस अधिवेशन में मुसलमानों के विरुद्ध संघर्ष का आह्वान किया गया । यह मायावादी राजनीति है । ऐसी स्थिति में मुझे इस बात में सन्देह नहीं है कि संविधान सभा द्वारा तैयार संविधान में भी ऐसा अन्तर्विरोध प्रकट होगा । हमारे समक्ष 1919 के जर्मनी के उदार 'वीमर संविधान' का उदाहरण है और उसकी जैसी परिणति यहाँ भी हो सकती है । राष्ट्रीय दार्शनिक ने प्राचीन युग के राष्ट्रीय आदर्शों की विस्तार से चर्चा की है । उस दृष्टिकोण में प्राचीन सामाजिक ढाँचे को आधुनिक बनाने के प्रयास का विरोध निहित है । लेकिन यदि आप मध्यकालीन सामाजिक व्यवस्था को आधुनिक अथवा अतिप्राचीन न भी सही उदार संविधान का रूप देने का प्रयास करेंगे तो आपको ऐसे परिणामों के लिए तैयार रहना चाहिए जैसे जर्मनी में अनुभव किये गये ।

हमने जनता को यह बता दिया है कि यदि सत्ता हमारे पास आयेगी तो हम क्या करेंगे । हमारी नीति है कि पार्टी आधुनिक समाज का अभियान चला कर साम्प्रदायिकता की जड़ों पर प्रहार करेगी । हम आर्थिक तरीकों में समाजवाद के द्वारा पूँजीवाद को खत्म करने का प्रयास करेंगे । आक्रमणकारी साम्प्रदायिकता के द्वारा विरोधी आकांक्षाओं को उभाड़ना, पूंजीवादी तरीका है । यद्यपि साम्प्रदायिकता का आधार वह मध्ययुगीन मानसिकता है जो जनता में प्रचलित है । शिक्षित लोगों में असुरक्षा, भय और असन्तोष की भावना और प्रतिस्पर्द्धा तथा विकृत आर्थिक व्यवस्था के कारण उन्हें सम्प्रदायवादी झण्डों के नीचे जमा होने को उत्साहित करती है । यदि प्रत्येक व्यक्ति के लिए काम की व्यवस्था हो और योग्य व्यक्तियों को विकास के अवसर मिलें तो साम्प्रदायिकता के प्रति लोगों का आकर्षण नहीं रहेगा । हम जिस व्यवस्था को लाना चाहते हैं उसमें इस प्रकार की व्यवस्थाएं व्यवहारिक राजनीति में अपनायी जा सकेंगी ।

इसके अतिरिक्त, हम जिस प्रकार के संविधान का प्रस्ताव कर रहे हैं उसमें जनता केवल हवाई उड़ानों की दर्शक भर नहीं रहेंगी, जिसमें एक ओर का उड़ाकू बड़ी कुशलता से प्रतिपक्षी पर आक्रमण करता है और दर्शकों से

वाहवाही लूटता है। हमारे प्रस्तावित संविधान में सभी मतदाता अर्थात् सभी बालिग लोगों का सम्पर्क उनकी स्थानीय राजनीतिक एवं आर्थिक प्रशासन से स्थापित किया जायेगा। इस प्रकार के विभिन्न समुदायों के हितों की समानता का व्यवहारिक रूप से अनुभव करने के लिए बाध्य होंगे। उनका सम्पर्क आधुनिक विचारों और प्रौद्योगिकी से होगा। उन्हें केवल मध्ययुगीन ग्रामीण व्यवस्था के उपयोग के लिए मजबूर नहीं किया जायेगा। वे अपनी आर्थिक व्यवस्था को आधुनिक रूप देंगे। गाँधीवादी ग्रामीण व्यवस्था में कहा जाता है, कि प्रशासन के उच्च संगठनों में उन्हीं लोगों को प्रतिनिधि बनाया जायेगा जो बिना पारिश्रमिक के काम करने को राजी हों। यह राजनीति की मध्ययुगीन कल्पना है जिसके आधार पर राजनीति पर सामन्ती और पुरोहितवाद को सुरक्षित रखा जाता है। इस सम्बन्ध में भी हम आधुनिक तरीके अपनाये जाने के पक्ष में हैं।

हमने प्रस्तावित संविधान में अल्पसंख्यकों को संरक्षण देने की व्यवस्था की है। किसी भी क्षेत्र विशेष की सांस्कृतिक विशिष्टता के आधार पर बहुमत के निर्णय के द्वारा उसे अलग किया जा सकता है। इस संरक्षण से अधिक राज्य नहीं जायेगा। आपत्तियों के बावजूद हम इस सिद्धान्त का समर्थन करते हैं। विभाजन और अखण्डता जैसी मामूली बातों को बहुसंख्यक समुदाय पूंजीवादी साम्राज्यवादी प्रभाव अथवा भावुकता के आधार पर अधिक महत्व देता है। यदि विभाजन से साम्प्रदायिक शान्ति प्राप्त की जा सकती है तो हमें विश्वास है कि ऐसा सम्भव है, हम अन्य किसी भी विवेकशील व्यक्ति की भांति इसके लिए राजी हो सकते हैं। हमें पृथक मतदान का सिद्धान्त भी स्वीकार है और उसके द्वारा अधिक प्रतिनिधित्व की बात स्वीकार नहीं की जा सकती। ऐसी दशा में सभी अल्पसंख्यक लोगों को यदि वे चाहें तो, निर्वाचित संस्थाओं में पृथक मतदान का अधिकार दिया जा सकता है। हम अल्पसंख्यकों के दूसरे संरक्षणों—नौकरियों में, शिक्षा संस्थाओं में संरक्षण की मांग का समर्थन करते हैं। इस सम्बन्ध में किसी व्यक्ति की स्वतन्त्रता के विरुद्ध भेदभाव नहीं होना चाहिए और व्यक्ति की स्वतन्त्रता की रक्षा की व्यवस्था होनी चाहिए।

लेकिन मौलिक दृष्टि से हम साम्प्रदायिकतावाद को गौण विषय मानते हैं। इस समय इसने अन्य सभी बातों को ढंक लिया है। सामाजिक परिवर्तन की समस्या बाकी रहेगी। यदि सामाजिक परिवर्तन की समस्या को सुलझाया जाय तो साम्प्रदायिकतावाद बिना किसी झंझट के समाप्त हो जायेगा। हमारा मुख्य काम सामाजिक परिवर्तन लाना है।

पिछले कुछ वर्षों से हमारी पार्टी के प्रमुख साथियों ने इस कार्य के लिए गम्भीर चिन्तन किया है और वे कुछ महत्वपूर्ण निष्कर्षों पर पहुँचे हैं। इन निष्कर्षों से हमारे कुछ सदस्यों में आश्चर्य और विरोध भी यद्यपि है—मुझे विश्वास है कि सामान्यतः उनका स्वागत किया गया है। मैं स्वयं अपने संबंध में कह सकता हूं कि मैंने नये दृष्टिकोण से अपनी समस्याओं को सुलझाने के सम्बन्ध में अधिक विचार नहीं किया है। लेकिन कुछ वर्षों से मैं समाजवादी नीतियों की दिशा में आगे बढ़ने की आवश्यकता अनुभव करता रहा हूँ। मुझे जब यह अनुभव हुआ कि रेडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी समाजवाद और लोकतंत्र के समन्वय के लिए प्रयत्नशील है तो मैं इस पार्टी के निकट आया। कामरेड राय द्वारा प्रस्तावित 'भारत के संविधान का मसविदा' जिसे दो वर्ष पूर्व प्रकाशित किया गया था, देखने के बाद मेरी आशा की पुष्टि हो गयी। मैंने उस संविधान का इस दृष्टि से स्वागत किया कि उसमें सोवियत सिद्धान्तों और उदार लोकतंत्र के सिद्धान्तों का सम्मिश्रण है और उसमें इस बात पर विशेष रूप से जोर दिया गया है कि व्यक्ति स्वातंत्र्य की रक्षा की जाय। मैंने साहस करके कामरेड राय को लिखा था कि उनके अनुभव ने उन्हें यह सोचने पर बाध्य किया कि तानाशाही तरीकों का— जिन्हें चाहे अच्छे उद्देश्य के लिए भी अपनाया जाता है—दुष्परिणाम ही निकलता है। मुझे यह खुशी है कि मेरा अनुमान सही था।

मैं यह सब इसलिए नहीं कह रहा हूँ क्योंकि मेरी प्रतिक्रिया का महत्व है, लेकिन मुझे लगता है कि बहुत से अन्य लोग इसी भाँति सोचते हैं। मुझे विश्वास है कि पिछले कुछ वर्षों से इसी प्रकार के विचार बढ़ रहे हैं। लोगों को प्रतीत होता है कि समाजवाद का आना निश्चित है और वे उसे समतामूलक समाज मानते हैं और उसमें व्यवसायिक संस्कृति का प्रभाव कम है और आन्तरिक शान्ति की सम्भावना है। लेकिन लोग अपनी जीवन पद्धति के समर्थक हैं। वे धार्मिक स्वतन्त्रता चाहते हैं, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता चाहते हैं, समाचार प्रकाशन की स्वतंत्रता चाहते हैं और वे चाहते हैं कि उन्हें काम करने अथवा दूसरा काम करने की स्वतंत्रता हो। वे विदेश जाने की, यदि उनमें सामर्थ्य है, स्वतंत्रता चाहते हैं। वे राजनीतिक स्वतंत्रता इस प्रकार से चाहते हैं जिससे उन्हें यह प्रतीत हो जैसे कि वे शासन को नियंत्रित करते हैं, केवल शासन ही उन्हें नियंत्रित नहीं करता है—चाहे वे सरकार को नियंत्रित करने की स्वयं चिन्ता न करें। वे यह नहीं चाहते कि कोई व्यक्ति अथवा संगठन कानून से ऊपर हो और मनमाने ढंग से सत्ता का उपयोग करे। वे महत्वपूर्ण मामलों को गुप्त रखना पसन्द नहीं करते और वे यह नहीं चाहते कि उनके विरुद्ध खुफियागीरी की जाय।

समाजवाद के विरोधियों का समाजवाद के विरुद्ध यह आक्षेप रहा है कि समाजवाद में मानव की इन स्वतंत्रताओं का हनन कर दिया जायेगा । और यह दुर्भाग्य की बात है कि जब समाजवाद को पहली बार व्यवहार में लाया गया तो समाजवाद के विरोधियों की ऊक्त भविष्यवाणी सही साबित हुई । अब हमारे कामरेडों ने यह विचार किया है कि यदि इस देश में समाजवादी आन्दोलन को गम्भीरता से चलाना है तो उसे इन आक्षेपों से मुक्त किया जाना चाहिए । यह केवल ऊपरी दिखावे की बात नहीं है । वे अपनी बात को येनकेन प्रकारेण सिद्ध करने का प्रयास नहीं कर रहे हैं । वे इस बात की जाँच कर रहे हैं कि क्या ऐसा व्यवहारिक उपाय किया जा सकता है जिसके द्वारा समाजवादी नीतियों को इस प्रकार अपनाया जाय जिससे उसकी उन बुराइयों से बदनामी हुई है, उन्हें छोड़ा जा सके । यह कहना आसान और साफ है कि समाजवाद में उदारवाद के मूल्यों और मर्यादा की रक्षा की जाय । हर व्यक्ति ऐसा करता है । जवाहरलाल भी यह बात कहते हैं । प्रश्न है कि क्या ऐसा सम्भव है ? हमारे कामरेडों ने सन्तोषपूर्वक कहा है कि ऐसा सम्भव है और उन्होंने उन उपायों पर काम करना शुरू किया है जिससे इसको व्यवहारिक रूप दिया जा सके । कामरेड राय द्वारा प्रस्तुत 'भारत के संविधान का मसविदा' एक ऐसे राज्य के ढांचे को परिभाषित करता है जिसमें राज्य सुदृढ़ होगा, उसको व्यवहार में लाया जा सकेगा और उसमें समाजवाद और उदार लोकतंत्र के गुणों को शामिल किया जा सकेगा । जो भी हो, हमारे साथी इस समस्या के दूसरे पहलुओं पर भी विचार कर रहे हैं । वे यह दिखाना चाहते हैं कि यह नया दृष्टिकोण हमारे उन सिद्धान्तों के अनुकूल है जिन्हें हम अपनाते रहे हैं । यह हमारे दर्शन के अनुकूल है लेकिन इसमें उन कथित अकाट्य सिद्धान्तों को छोड़ा गया है जिन्हें समाजवादी आन्दोलन के बहुत से लोग अनिवार्य मानते रहे हैं । मैं जहां तक कह सकता हूँ, उसके अनुसार कुछ सिद्धान्तों से अलग होना न्यायसंगत है और उनमें से शायद ही कोई बात ऐसी है जिसे इस विषय के अध्येता न जानते हों । कुछ लोग मार्क्सवादी सिद्धान्त को अक्षरशः अपनाने पर जोर देते हैं । यह बात कम्युनिस्टों पर लागू होती है । लेनिन ने इस बात को स्वीकार किया है कि यदि मार्क्सवाद के सिद्धान्तों के अक्षरशः पालन से हटा जायेगा और लोगों को बौद्धिक स्वतंत्रता दी जायेगी तो उनका राजनीतिक अनुशासन नष्ट हो जायेगा । कुछ लोग यह सोच सकते हैं कि ऐसा खतरा हमारे सामने भी आ सकता है । लेकिन हमारी स्थिति भिन्न है और यह भी हो सकता है कि लेनिन ने गलती की हो । यह प्रश्न वास्तव में तथ्यों से सम्बन्धित है । यदि तथ्य जटिल हों तो सरलीकृत सिद्धान्तों से

चिपका नहीं रहा जा सकता । यह स्पष्ट है कि तथ्य जटिल हैं और हमें अपने आप में यह समझौता रखना पड़ेगा कि हम तथ्यों और उनके मन्तव्यों का ईमानदारी से सामना करेंगे ।

रेडिकल डेमोक्रेसी के सिद्धान्त सम्बन्धी वक्तव्य के पहले अंश के व्यक्ति के ऊपर अधिक जोर देने पर प्रश्न चिह्न लगाया गया है । ऐसा सिर्फ सफाई की दृष्टि से किया गया है, पुराने मार्क्सवादी लेखकों ने इन प्रश्नों की चिन्ता नहीं की । इस वक्तव्य के द्वारा समाज अथवा मानव के सामाजिक स्वभाव और समाज के कल्याण की भावना से इन्कार नहीं किया गया है । उसमें इस बात का संकेत किया गया है और वह स्पष्ट है कि स्वतंत्रता, समाज कल्याण और व्यक्ति कल्याण की कोई अलग स्वतंत्र सत्ता नहीं है । सामाजिक कल्याण अन्ततः व्यक्ति के कल्याण से सम्बन्धित है, यह केवल उनकी समष्टि नहीं है । जैसाकि वक्तव्य में कहा गया है व्यक्ति के कल्याण को व्यवहारिक रूप देना एक जटिल प्रक्रिया है । यह इस बात पर आश्रित है कि व्यक्ति का कल्याण, उसकी मांग और सम्बन्धित अन्य बातों के आधार पर उसका वितरण कैसे किया जाये ।

लेकिन यह पुरानी परम्परा से हटने का एक उदाहरण है, लेनिन के बाद की परम्परा को यहाँ छोड़ा गया है । और यह अन्तर मानव की स्वतंत्रता पर अधिक जोर देता है । लेनिन के पहले व्यक्ति की स्वतंत्रता को स्वीकार किया जाता था, कम से कम सिद्धान्त में उसको सबसे बड़ा मूल्य माना जाता था । मार्क्स ने ऐसा किया था । उसके अनुसार आवश्यकता के शासन से स्वतंत्रता के शासन में प्रवेश करना ही क्रान्ति का उद्देश्य था । लेकिन हैगेल का अनुसरण करते हुए स्वतंत्रता को व्यक्ति के बजाय सामाजिक अर्थ प्रदान किया गया । इस स्थल पर हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि हम परम्परा से हट रहे हैं, लेकिन हम कह सकते हैं कि उक्त परम्परा सही नहीं है और हमने सही दृष्टिकोण अपनाया है । मानव अनुभव के अतिरिक्त और किसी अनुभव की बात नहीं की जा सकती । स्वतंत्रता व्यक्तिनिष्ठ अनुभव की बात है । यह पसन्द करने की स्वतंत्रता में अनुभव की जा सकती है । यह मानसिक प्रक्रिया और व्यक्ति की क्रिया से सम्बन्धित है । अतएव यदि किसी सामाजिक समूह की स्वतंत्रता के सम्बन्ध में कोई वक्तव्य है तो विश्लेषण करने पर उसका सम्बन्ध व्यक्ति की स्वतंत्रता से होना चाहिए । कोई समाज अपनी पसन्द को व्यक्त नहीं कर सकता । यह काम व्यक्ति का है और उसे अपनी पसन्द व्यक्त करनी चाहिए, इसलिए अन्ततः व्यक्ति को ही स्वतंत्र होना चाहिए ।

सम्भवतः इस बात पर आपत्ति नहीं की जायेगी कि स्वतंत्रता सबसे मूल्यवान है। स्वतंत्रता का अपहरण कष्टकारक माना जाता है और इसके अपहरण से चरित्र भी नष्ट होता है। स्वतंत्रता का अनुभव स्वमेव कल्याणकारी माना जाता है और चरित्र तथा बौद्धिक विकास के लिए उसको उपयोगी माना जाता है, अर्थात् वह सबसे बढ़िया अच्छाई है। इस बात में सन्देह नहीं है कि स्वतंत्रता के सम्बन्ध में वक्तव्य में जो बातें कही गयी हैं वे सुदृढ़ आधार पर हैं। यदि हम पुराने विचारों के हिमायती हों तो भी हमें स्वतंत्रता पर जोर देना चाहिए क्योंकि वस्तुगत आधार पर आधुनिक प्रौद्योगिकी के लिए स्वतंत्रता की आवश्यकता है। इस बात का भय फैला हुआ है कि प्रौद्योगिकी के विकास से मानव जाति की गुलामी बढ़ेगी, लेकिन यह भय निराधार है। नाजी लोग जब संसार भर में अपना निरंकुश शासन स्थापित करने चले थे तो उन्होंने जल्दबाजी की, लेकिन ऐसी निरंकुशता की स्थापना के बाद उसका हटाना असम्भव हो जायेगा। इस प्रकार प्रौद्योगिकी का विकास हमारे सामने चुनाव करने की समस्या लाता है कि हम गुलाम संसार चाहते हैं अथवा स्वतंत्र संसार चाहते हैं। अब हमारे सामने वह समय आ गया है जब हमें स्वतंत्रता की इस समस्या पर विचार करना चाहिए।

स्वतंत्रता को व्यवहारिक रूप देते समय अधिक गम्भीर प्रश्न उठेंगे। हम इस सिद्धान्त की क्यों चिन्ता करते हैं? इस सम्बन्ध में जो वक्तव्य तैयार किया गया है वह कोई मखौल नहीं है। यह सिद्धान्त एक व्यवहारिक आवश्यकता है। इस सिद्धान्त से अच्छे इरादों की भयंकर गलती और यथार्थ राजनीतिक नेतृत्व का अन्तर स्पष्ट हो जाता है। अन्य पार्टियों में अच्छे इरादों की कमी नहीं है लेकिन वे यह नहीं समझ पा रहे हैं कि वे क्या कर रहे हैं। मेरा विश्वास है कि हमारी पार्टी दूसरी पार्टियों से इस दृष्टि से सबसे अच्छी है। हमारे सिद्धान्त केवल हमारे राजनीतिक विचारों की पुष्टि के लिए ही नहीं अपनाए गये हैं वरन् वह सत्य के आधार पर सही हैं। मुझे विश्वास है कि यह बात नये सैद्धान्तिक विकास पर भी लागू होती है। दर्शन और सिद्धान्त के अन्य लाभ भी हैं। इस नीति से वे लोग भी हमारे प्रति आकृष्ट होते हैं जिनके दार्शनिक विचार हमारे विचारों के समान हैं। और यह तथ्य कि हमारे दार्शनिक विचार सैद्धान्तिक आधार पर हैं इससे हमारे उत्साह और निश्चय को सुदृढ़ करते हैं और यह विश्वास होता है कि हम इनको पूरा कर सकेंगे। सिद्धान्त व्यक्तियों को आगे बढ़ने की प्रेरणा देते हैं, यह शक्ति बहुत अधिक है। वह क्या बात है जिससे यह शक्ति उत्पन्न होती है, यह मैं नहीं जानता लेकिन मैं समझता हूँ कि सिद्धान्त जितना व्यापक और विस्तृत होता है वह

लोगों को प्रभावित करता है। समान तथ्यों से जब इनकी पुष्टि होती है तो उनका प्रभाव भावनाओं और लोगों की समझदारी पर पड़ता है।

लेकिन सिद्धान्त लोगों को विकर्षित और विभाजित कर सकता है और उनमें एकता ला सकता है। ऐसे बहुत से लोग हैं जिनके दार्शनिक विचार हमारे विचारों से भिन्न हैं और उन्हें इस प्रकार प्रशिक्षित किया गया है कि हमारे विचारों से घृणा करते हैं, ऐसे लोगों को हम अपने विचारों का नहीं बना सकते। लेकिन ऐसे योग्य व्यक्ति हैं जो हमें शत्रु मान कर हमारी बातों की उपेक्षा नहीं कर सकते। उनमें से कुछ हमारे राजनीतिक उद्देश्यों और नीतियों से सहमत हैं। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि हमारे विचारों को दो भिन्न स्तरों पर प्रचारित करना चाहिए। हमारी आकांक्षा है कि हम विस्तृत और विशाल बनकर सभी आन्दोलनों में संलग्न लोगों को अपने सिद्धान्तों और उद्देश्यों के अनुकूल न्यूनतम कार्यक्रम पर एक साथ लाएं। हम अपनी पार्टी को अधिक सुदृढ़ बनाना चाहते हैं और अपने दार्शनिक सिद्धान्त को परिभाषित करके एक विस्तृत राजनीतिक कार्यक्रम अपनाना चाहते हैं।

यह एक जानी मानी तस्वीर है। कम्युनिस्ट पार्टियों की स्थिति भी कुछ ऐसी ही है और हम जानते हैं कि दोहरे स्तर की राजनीति करने की क्या परिणति होती है। इसमें धोखेबाजी, छल और माईकावेली के सिद्धान्त के अनुसार राजनीति चलाने वाली बातें शामिल होती हैं जिनसे बदनामी ही होती है। विदेशों में कम्युनिस्ट आन्दोलनों की विफलता का कारण सोवियत संघ में हुआ विकास ही नहीं है, उसकी विफलता उसके अपने सिद्धान्तहीन तरीकों के कारण हुई है। और इस प्रकार के अनुचित तरीकों को अपनाने के पीछे दो प्रकार के संगठनों को साथ-साथ चलाना था। कठोर अनुशासन और सैद्धान्तिक शुद्धता और दूसरी ओर लोकप्रिय आन्दोलनों के साथ चलने और उनको नियंत्रित करने के प्रयास से ऐसी स्थिति उत्पन्न होती है।

हम इस प्रकार के जाल में नहीं फंसना चाहते हैं। फिर भी हमारी और उनकी स्थिति समानान्तर है। हम उस स्थिति से इसलिए बच सके हैं क्योंकि हमने नेतृत्व की आकांक्षा छोड़ दी है और हम अपने विचारों को स्पष्ट करने का प्रयास कर रहे हैं जैसाकि ब्रिटेन के 'फैबियन' लोगों ने किया था। यदि हम स्वयं आत्मविलोप नहीं चाहते तो भी हम ईमानदार रह कर उक्त जाल से अपने को बचा सकते हैं। इस स्थिति में विचारों के नवीकरण का प्रश्न उठता है। इस प्रकार यह सम्भव है कि ईमानदार नेतृत्व और जनता के ऐसे ईमानदार लोगों को एक साथ लाया जा सके जिनके विचार हमसे भिन्न

हैं और जो हमारी नीतियों को पूरी तौर से स्वीकार नहीं करते। हमें कोई बात गुप्त नहीं रखनी है। हम आन्दोलन के लिए लोकतन्त्र समर्थकों का सहयोग इसलिए नहीं चाहते कि हम तानाशाही स्थापित करना चाहते हैं। स्वतंत्रता के सम्बन्ध में हमारे दृष्टिकोण के आधार पर ही लोकतांत्रिक आधार पर अन्य लोगों का सहयोग सम्भव है।

मतभेदों को देखते हुए हम परम्परागत पार्टी से भिन्न नये ढंग की पार्टी संगठित करना चाहते हैं। हमारा लक्ष्य तानाशाही की स्थापना नहीं है। इस सम्बन्ध में कुछ विवाद था। मेरा विश्वास है कि कुछ सदस्यों की शिकायत है कि नेता अव्यवहारिक हैं। नेताओं की ओर से पार्टी कार्य को कुशलता से चलाने और उसे विकसित करने की समस्या को शुद्ध रूप से मनोवैज्ञानिक मानने की बात कही जाती है। आलोचकों के अनुसार इसके लिए नियंत्रण और अंकुश ज़रूरी है।

किस बात पर जोर दिया जाय, यह प्रश्न है। मेरा कहना है कि एकदम बिना संगठन और बिना अनुशासन के सिद्धान्त की बात करना काल्पनिकता माना जायेगा। लेकिन प्रभावकारी और किस सीमा तक अनुशासन रखा जाय यह बात अनुभव से जाननी चाहिए। दूसरी ओर, मैं यह नहीं मानता कि अनुशासन का समर्थन करने वाले लोग इस बात पर सवाल नहीं उठायेंगे कि मनोवैज्ञानिक समस्या अधिक आधारभूत है जब तक कि बड़ी संख्या में पार्टी के लोग इस नीति के लिए अत्यधिक उत्साही न हो उठें। ऐसी स्थिति में पार्टी नहीं बन सकेगी और न केवल अनुशासन के नाम पर उसे बनाया ही जा सकेगा।

सभी देशों में कम्युनिस्ट पार्टियां हैं और उनमें काफी राजनीतिक शक्ति है। अतः यह देखना ठीक होगा कि वे कैसे काम करती हैं। उनमें इसके लिए उत्साह कहां से आता है? प्रथम कम्युनिस्ट पार्टियों के सदस्यों का विश्वास है कि उनका सिद्धान्त सर्वव्यापक है जो उसे कुछ भी करने को न्यायसंगत मानने का आधार देता है और यह विश्वास उत्पन्न करता है कि अन्ततोगत्वा विजय उनकी होगी। द्वितीय, वे अपने सिद्धान्त को अन्य सब सिद्धान्तों से सर्वोपरि समझते हैं। कम्युनिस्टों में दूसरों की अपेक्षा सर्वोत्तम होने की भावना से लोगों पर प्रभाव पड़ता है और इसी आधार पर अन्य समाजवादी पार्टियों से उनका अन्तर पैदा होता है। तृतीय, उनमें सन्देह की गुंजाइश नहीं रहती क्योंकि वे अपने सिद्धान्तों को पूर्ण मानते हैं और उन्हीं से प्रेरणा लेते हैं। चतुर्थ, उनमें इस बात से उत्साह उत्पन्न होता है कि वे विश्वव्यापी आधार पर एक बड़ी बिरादरी के सदस्य हैं जो समान उद्देश्य

के लिए संघर्ष कर रही है और उनका पिता मास्को में है जिसके लिए उनमें अटूट श्रद्धा है। पंचम, वे ऐसे संकट में विश्वास करते हैं जिसके बाद उनकी कल्पना का समाज उत्पन्न होगा। इस प्रकार के विचार बड़े सन्तोषजनक लगे हैं और सुखान्त की भावना उसमें सुदृढ़ होती है। इस प्रकार की भावना से ईसाइयों में ईसा के पुनर्जन्म के विश्वास के समान एक विश्वास उत्पन्न होता है। मार्क्स ने जन्म और दूसरे जीवों की तस्वीरों की बात का बार-बार उल्लेख किया है। द्वन्द्वात्मक विचार-पद्धति की यह परिणति है। षष्टम, अन्त में अपराध अथवा पाप भावना उदय होती है, वह दण्ड देने के समान है जिससे सभी पाप नष्ट होकर उनसे मुक्ति मिल सकती है। कम्युनिस्ट लोग पूंजीवादी समाज को वैसे ही देखते हैं जैसाकि प्रारम्भिक समय में ईसाई लोग रोम को देखते थे और वे उसे पाप का मूल समझते हैं। सप्तम, इसी आधार पर वे उस व्यवस्था को नष्ट करने के लिए अधिकतम आक्रमणकारी रवैया अपनाते हैं। कम्युनिस्ट प्रचार साधनों ने इसके लिए विशेष शब्दजाल की रचना की है। गांधीवादी तरीकों को अपनाकर और सत्ताधारियों द्वारा दमन को उत्तेजित कर घृणा का वातावरण बनाने का प्रयास किया जाता है। उसके लिए अमूर्त सिद्धान्त को युद्धपरक नाम देकर उसे जुझारू भौतिकवाद की संज्ञा दी जाती है।

हम लोग कम्युनिस्टों की भांति कट्टरपन को उत्साहित करने वाले कारणों को अपनाने में उसकी बराबरी नहीं करना चाहते। लेकिन एक दृष्टि से हम कम्युनिस्टों से अच्छा होने का दावा कर सकते हैं। विश्वव्यापी आधार पर उनका आन्दोलन गिरावट की ओर है जबकि हमारे आन्दोलन में आशापूर्ण स्थिति आ रही है। हम लोग भी विश्वव्यापी विचार आन्दोलन के सदस्य हैं जो अब तक असंगठित हैं लेकिन वह आगे बढ़ रहा है। हमें आशा है कि हम भविष्य में सफलता की लहरों के ऊपर होंगे। इसके अतिरिक्त मैं समझता हूँ कि हमें बचकानापन छोड़कर अधिक विवेकपूर्ण स्रोतों से प्रेरणा प्राप्त करनी चाहिए। हम निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते कि हमें विजय ही मिलेगी। लेकिन इसके लिए हमें अधिक प्रयास करने की जरूरत है। हमारे विचार मानव विभूति का अन्तिम वाक्य नहीं हैं लेकिन बौद्धिक दृष्टि से सम्माननीय हैं और इन विचारों के लिए हमें शर्मिन्दा होने की जरूरत नहीं हैं। हमें यह नहीं सोचना चाहिए कि कोई दूसरा हमारे लिए विचारों को परिपक्व करेगा। हमें अपने विचारों को विकसित करने के लिए गर्व होना चाहिए। हम अपने नेताओं को मानवता से ऊपर के स्तर का नहीं मानते और हम उसे दोषहीन भी नहीं मानते, लेकिन हम उनकी उपलब्धियों के प्रति वर्ग का

अनुभव कर सकते हैं। मैं समझता हूँ कि यह बात आप लोगों के लिए उचित रूप से गर्व की बात है कि नये विचार को एक भारतीय विचारक ने विकसित किया है यद्यपि हम राष्ट्रवाद की निन्दा करते रहे हैं। हम लोग सस्ते ढंग से आक्रमणकारी रवैया नहीं चाहते हैं लेकिन हमें यह सन्तोष होना चाहिए कि हम जब आक्रमण करेंगे वह सही शत्रु पर आक्रमण होगा। संक्षेप में, हम विवेकपूर्ण कार्यों के स्थान पर अन्य सस्ते विकल्पों को स्वीकार नहीं करते। हम अपने विचारों और अपने आन्दोलन के सही गुणों से शक्ति प्राप्त करते हैं। हमारा एक आन्दोलन है। उसका समाचार-पत्रों और प्रचार माध्यमों से बढ़-चढ़ कर प्रचार नहीं है, लेकिन उसकी चर्चा होती है और लोग उसका अनुभव करते हैं। मैं बिहार की घटनाओं का जिक्र उदाहरण के रूप में करना चाहता हूँ। हमें उन आदर्शों पर गर्व होना चाहिए जिन्हें हमने अपनाया है। हमारे आदर्श और विचार विवेक, ईमानदारी और बौद्धिक आधार पर सही हैं और हमने जो उद्देश्य अपने सामने रखा है वह भ्रामक उद्देश्य नहीं है और वह व्यवहारिक रूप में सबसे अच्छा है।

रेडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी के बम्बई में 26 से 30 दिसम्बर, 1946 तक हुए तीसरे अखिल भारतीय अधिवेशन के अध्यक्ष पद से फिलिप स्प्रैट का अध्यक्षीय भाषण।

दो

गांधीवाद और रेडिकलवाद

अधिवेशन का सर्वेक्षण करके मैं यह कह सकता हूं कि इसके सामने जो विषय था अर्थात् रेडिकल डेमोक्रेसी के सिद्धान्तों पर विचार करना और उसे देश के सामने प्रस्तुत करना, उस कार्य में उसे सफलता मिली है और इस अधिवेशन का यह महत्त्व है कि इसके द्वारा एक विशिष्ट राजनीतिक इकाई उभर कर सामने आयी है। यहां हमने एक सिद्धान्त की निश्चित परिभाषा प्रस्तुत की है जो अन्य दूसरे सिद्धान्तों से भिन्न है और जो पूरी तौर पर भारतीय जनता के प्रति निष्ठावान है।

इस समय तीन अन्य सिद्धान्त हैं, इनमें मैं सामान्य प्रवृत्तियों की गणना नहीं करता हूं वरन् उन सिद्धान्तों की बात करता हूं जो व्यवस्थित विचार वाले सिद्धान्त हैं और जिनसे राजनीतिक विचारों का उद्‌गम होता है। पहला सिद्धान्त उदार पूंजीवाद का है। उसके नये समर्थक सामने आये हैं जो सैद्धान्तिक रूप से इसकी ओर आकृष्ट हुए हैं और बहुत से लोग जो अब तक भिन्न कारणों से इसके समर्थक थे वे फासिज्म की ओर आकृष्ट होकर इससे अलग हो रहे हैं।

दूसरा सिद्धान्त कम्युनिज्म का है। हमने जिन सिद्धान्तों का यहां प्रतिपादन किया है उनसे कम्युनिज्म से हमारे मतभेद स्पष्ट हो जाते हैं। इस सम्बन्ध में काफी कुछ कहा जा चुका है और उस पर अब विस्तार से जाने की आवश्यकता नहीं है।

तीसरा सिद्धान्त गांधीवाद है। उसके अनुयायी संख्या की दृष्टि से सबसे अधिक हैं। हमने जो 'नया विचार' प्रस्तुत किया है वह पिछले दो-तीन वर्षों में सामने आया है। कुछ लोगों का कहना है कि हम गांधीवाद के प्रभाव में आते जा रहे हैं। इसमें सन्देह नहीं कि कुछ समानताएं हैं, लेकिन दोनों में महत्वपूर्ण मतभेद भी हैं।

कुछ सप्ताह पूर्व मेरठ कांग्रेस के अपने अध्यक्षीय भाषण में आचार्य कृपलानी ने गाँधीवाद की आधुनिक व्याख्या प्रस्तुत की। उन्होंने व्यक्तिगत स्वतंत्रता, लोकतंत्र, बालिग मताधिकार और विकेन्द्रीकरण पर जोर दिया

और पूंजीवाद की आलोचना की। यद्यपि उन्होंने कुछ आधुनिक औद्योगिक तरीकों को अपनाने पर भी जोर दिया है। हमें इन बातों के विरुद्ध विशेष आपत्ति नहीं है और यदि गांधीवाद की ये बातें सही हैं तो हमें उनसे विवाद नहीं है। लेकिन वास्तविकता में जिस प्रकार गांधीवाद को व्यवहार में लाया जा रहा है उससे ऐसा प्रतीत नहीं होता कि गांधीवाद नये रास्ते को अपना सकेगा।

गांधीवाद की मूल भावना यह है कि वह औद्योगिकवाद और आधुनिक संसार के विरुद्ध है। पचास वर्ष पहले जब गांधी यूरोप और दक्षिण अफ्रीका गये थे उस समय अनेक लोगों की भांति उन्होंने औद्योगिकवाद का विरोध किया था। लेकिन उन्होंने केवल परिवर्तनों, सुधारों की बात नहीं सोची जिनसे उसे सहनशील और उपयोगी बनाया जा सकता। उन्होंने उसे पूरी तौर से पैशाचिक समझ लिया और उसके विरुद्ध अपनी कटु घृणा के कारण वे उससे किसी प्रकार के समझौते के लिए राजी नहीं हुए। उनका यह रवैया पहले से स्पष्ट था। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण से इसके अनेक कारण मालूम किए जा सकते हैं। कुछ लोगों का कहना है कि उनके इस रवैये के पीछे स्वतंत्रता से भयभीत होने की भावना थी और दूसरे उसका कारण यह बताते हैं कि उनमें 'मातृ-निष्ठा' के कारण यह रवैया उत्पन्न हुआ। जो भी कारण रहे हों, वे पुरानी व्यवस्था के प्रति निष्ठावान थे और उससे अलग होने की बात के सख्त विरोधी थे। वे इसे अपनी ईमानदारी के विरुद्ध मानते थे। औद्योगिकवाद को वे एक काल्पनिक पिशाच मानते थे जो अनेक बुराइयों को पैदा करता है। वह उससे भयभीत थे और घृणा करते थे। उससे सम्बन्धित होने पर उनमें अपराध बोध उत्पन्न होता था।

इसके परिणामस्वरूप उन्होंने एक विस्तृत कार्यक्रम बनाया जिसमें औद्योगिकवाद और आधुनिक संसार से सम्बन्धित सभी बातों को रद्द कर दिया गया। केवल औद्योगिक तरीकों को ही अस्वीकार नहीं किया गया, गांधीजी ने अपने अज्ञात अपराध बोध के कारण उन सभी बातों को छोड़ने पर जोर दिया जो सामान्य व्यक्ति में पायी जाती हैं। मुझे याद है कि एक बार महात्मा गांधी जी के सचिव महादेव देसाई ने फ्रांसीसी भाषा पढ़ने की योजना बनाई। वह अच्छे भाषाविद् थे और उनमें साहित्यिक योग्यता थी। सम्भव है वे थोड़े ही समय में फ्रांसीसी भाषा अच्छी तरह सीख जाते। फ्रांसीसी भाषा बहुत सुन्दर भाषा है और उसमें समृद्ध साहित्य है जिससे उन्हें आनन्द प्राप्त होता। यह भी सम्भव है कि उसे सीखने के बाद वे गांधीवाद की त्रुटियों को समझ पाते। लेकिन महात्मा गांधी जी ने उन्हें

मना कर दिया। उनकी दृष्टि में फ्रांसीसी भाषा सीखना पापपूर्ण अहंकार और समय की बरबादी था। बेचारे महादेव को अपने बाकी दिन गांधी जी के पत्र व्यवहार को पूरा करने में काटने पड़े और नई भाषा सीखने का आनन्द वे नहीं उठा सके।

फ्रांसीसी भाषा की बात क्यों, महात्मा गांधी यह नहीं चाहते कि हम अंग्रेजी समझें। हमें केवल हिन्दी का इस्तेमाल करना चाहिए। इस बात के पीछे उनके हृदय तल की वह भावना ही प्रकट होती है जिसमें सभी शिक्षा और कला का मूल पापमय है क्योंकि उनसे आनन्द प्राप्त किया जा सकता है और ज्ञान प्राप्त करने से आधुनिकता का प्रभाव बढ़ता है। कुछ गज कपड़ा तैयार करने की बात नहीं है लेकिन इस कार्यक्रम से लोगों के पास अपने लिए आनन्दित होने का अवसर ही नहीं मिलेगा।

महात्मा गांधी की हठवादिता का दूसरा परिणाम यह हुआ कि उन्होंने असम्भव और 'ऊंचे' नैतिकता का प्रचार किया जिसमें अहिंसा, दरिद्र नारायण, सन्तोष आदि बातों को शामिल किया गया। नैतिकता के क्षेत्र में अति करना उसी भांति हानिकारक है जैसे वह दूसरे क्षेत्रों में है। अनुचित ढंग से आदर्शवादी नैतिकता की शिक्षा साधारण लोगों को हानि पहुंचाती है क्योंकि वे उसका पालन करने में अपने को असमर्थ पाकर उसका एकदम परित्याग कर देते हैं। महात्मा गांधी के अव्यवहारिक नियमों का कारण उनकी सनक ही हो सकती है और पूरे राष्ट्रवादी आन्दोलन की नैतिकता में गिरावट आती है।

महात्मा गांधी अपने आन्दोलन को पूंजीवाद से मिलाकर चलाते रहे हैं, इसका तीसरा दुष्परिणाम है कि उसे पूंजीवाद से अलग नहीं किया जा सकता। इस अधिवेशन में इस बात पर जोर दिया गया है कि सिद्धान्त व्यवहारिक परिस्थितियों से ही हमेशा नहीं उत्पन्न होते, लेकिन कभी-कभी वे स्वतंत्र रूप से विकसित किये जा सकते हैं और उनके अनुकूल परिस्थितियां आने पर उनको लागू किया जा सकता है और इस प्रकार की स्थिति आने में देर भी लग सकती है। महात्मा गांधी के उपदेशों पर भी यह बात लागू होती है। यह निश्चित है कि उनका विचार पूंजीवाद का हित साधन करना नहीं है, लेकिन उनके सिद्धान्त ऐसे हैं जो पूंजीवादी परम्परा के पोषक हैं और यह तथ्य है कि दक्षिण अफ्रीका और भारत में पूंजीवादियों ने उत्साह से गांधीजी के अनुयायी बनना स्वीकार किया और वे उनके अनुयायी बने।

भारत और यूरोप में शान्तिवादी पूंजीवादियों की एक लम्बी परम्परा है। इसका कारण सम्भवतः यह था कि सामन्तकाल की अराजकता में जब शक्तिशाली लोग उनकी लूटपाट करते थे उस समय वे अपने को सच्चे-ईमानदार और किसी को दुःख न पहुंचाने वाला प्रचारित करके अपनी दान और दया की वृत्ति से अपने पक्ष में जनमत संगठित करते थे।

इस समय भी शुद्धतावादी नैतिकता का सम्बन्ध पूंजीवाद से है। काल्विन और वेजली के आन्दोलनों की ओर हमारा ध्यान जाता है। पूंजीवादी लोग अपने व्यवसाय के स्वभाव के कारण समाज से कट जाते हैं और इससे उनमें पाप-बोध उत्पन्न होता है। इसके साथ ही उन्हें ऐसा आचरण करना पड़ता है जिसकी नैतिकता निन्दा करती है। इसके फलस्वरूप वह अपने पापों के लिए प्रायश्चित की भावना अपनाता है और अपने शरीर को कष्ट देता है। वह मोटा कपड़ा पहनता है और तख्त पर सोता है और अपने भोजन को सीमित करता है तथा इसी प्रकार की अन्य बातें करता है। ऐसा करके वह अपना नैतिक सन्तुलन ठीक रखना चाहता है। वह गलत काम करके बहुत सा लाभ कमाता है लेकिन वह स्वयं इसका उपभोग नहीं करता है।

शुद्धतावाद का दूसरा लाभ यह भी है कि उससे पूंजीवाद लोगों और अपने कर्मचारियों को कड़ी मेहनत करने के लिए प्रेरित करता है और खर्च कम करके वह पूंजी जमा करना सम्भव बना देता है और इससे प्रतिस्पर्द्धा पर आधारित पूंजीवाद पनपता है। इन्हीं कारणों से और राष्ट्रवाद के कारण महात्मा गांधी के उपदेशों का मान भारत के पूंजीवादियों में बहुत अधिक है और उनके नेतृत्व वाला आंदोलन राष्ट्रीय पूंजीवाद से घुलमिल गया है और अब उनको अलग करना सम्भव नहीं लगता।

इस प्रकार के शुद्धतावादी पूंजीवाद के प्रति पिछले वर्षों में प्रगतिशील लोगों के प्रति श्रद्धा थी। जब पूंजीवाद युवावस्था में था तो उसके शुद्धतावादी और आदर्शवादी स्वरूप का भौतिक लाभ लोगों को मिलता था। भारत में यद्यपि पूंजीवाद युवावस्था में है लेकिन इसका कोई अपना भविष्य नहीं। हमारा विश्वास है कि यहां की स्थिति में शुद्धतावादी सिद्धांत उपयुक्त नहीं है और हम उसे अस्वीकार करते हैं। हमारा विश्वास है कि भूतकाल में चाहे शुद्धतावादी पूंजीवाद की उपयोगिता रही हो लेकिन इस समय आत्मनिग्रह और आत्मदमन पर आधारित नैतिकता उपयोगी नहीं है। सिद्धान्ततः प्रौद्योगिकी सभी लोगों के लिए जीवनोपयोगी वस्तुओं को उपलब्ध करा सकती है।

ऐसी स्थिति में जीवन का आनन्द लेने से वंचित रहने का कोई कारण नहीं है। हमारा विश्वास है कि ऐसा किया जाना चाहिए।

कुछ गांधीवादियों की ओर से यह तर्क दिया जाता है कि उनके सिद्धांत को पूंजीवाद से अलग रखकर लागू किया जा सकता है। लेकिन शुद्धतावाद को अपनाया जा सकता है चाहे वे आधुनिक प्रौद्योगिकी को अपनाना भी स्वीकार कर लें। यथार्थ तो यह है कि तब गांधीवादी सिद्धांत पूंजीवाद से अलग होने पर अधिक प्रतिक्रियावादी रूप अपना लेता है।

इन बातों को ध्यान में रख कर श्री श्रीमन्नारायण अग्रवाल द्वारा गांधीवादी आधार पर तैयार भारत के संविधान के मसविदे पर विचार करना चाहिए। उसके आधार में लोकतन्त्र की बात कही गयी है। गांवों में निर्वाचित पंचायतों की व्यवस्था है लेकिन ताल्लुका पंचायत में गांव-पंचायतों के सरपंच रखे जायेंगे और जिला पंचायत में ताल्लुका पंचायतों के अध्यक्षों को रखा जायेगा और ऊपर के संगठनों को भी इसी आधार पर संगठित किया जायेगा। यह अप्रत्यक्ष चुनाव की अतिवादी प्रक्रिया है और उसके आधार पर अनुत्तरदायी और कठोर सरकार की स्थापना होगी। इसके अलावा यह भी कहा गया है कि जन प्रतिनिधियों को उनकी सेवाओं के लिए कोई पारिश्रमिक नहीं दिया जायेगा। इसका प्रतिफल यह होगा कि गांव पंचायतों से लेकर ऊपर की सभी संस्थाओं में अमीर लोग अथवा संन्यासी जायेंगे जिन्हें अपने भरण-पोषण की व्यवस्था की कोई चिन्ता नहीं रहती है। यह समस्त विचार मध्ययुगी हैं।

और अपनी इस धारणा में वह पूर्णतः संगत है। स्वतन्त्रता, समानता और लोकतन्त्र असम्भव है, यदि आप आधुनिक प्रौद्योगिकी को अस्वीकार कर दें। गरीब समाज में जो उपभोक्ता वस्तुएं होंगी उनको हड़पने की प्रवृत्ति होगी और बहुसंख्यक लोग जो इन वस्तुओं से वंचित रहेंगे उन्हें भाग्यशाली अल्पसंख्यक लोग दबा कर रखेंगे। स्वतन्त्रता, समानता और लोकतंत्र शिक्षा का स्तर बिना ऊंचा किये भी असम्भव है लेकिन शिक्षा का प्रसार खर्चीला है और गैर औद्योगिक समाज में उसकी व्यवस्था नहीं की जा सकती।

इस प्रकार गांधीवाद की सभी महत्वपूर्ण बातों से हमारा मतभेद है। हम शुद्धतावादी नैतिकता स्वीकार नहीं करते और हम प्रौद्योगिकी और ज्ञान के फायदों से भी वंचित रहने के लिए तैयार नहीं हैं। हम पूंजीवाद और पूर्व-पूंजीवादी सामाजिक व्यवस्था से बंधे नहीं हैं जैसा कि उन्हें गांधीवाद में विकल्प के रूप में स्वीकार किया जाता है।

गांधीवाद सभी ओर से प्रतिबन्ध लगाना चाहता है। वह मानव जाति को बन्द रखना चाहता है। राष्ट्रीय सीमाओं में उसे सीमित रखना चाहता है और ज्ञान, कला, क्रीड़ा और जीवन के आनन्द के सभी साधनों से उसे वंचित रखना चाहता है। हम इन सीमाओं को खोलना चाहते हैं। यही कारण है कि हम राष्ट्रवाद के विरुद्ध हैं। हम सभी खिड़कियां खोल कर रखना चाहते हैं जिससे संसार भर में बहने वाली हवा हमें मिले। कला, साहित्य, विज्ञान, प्रौद्योगिकी का जो विकास संसार में हो हमें उसका लाभ मिले। जनता उन्हें जाने, समझे और उनका लाभ उठाये।

इस दृष्टि से गांधीवादी दृष्टि रोगग्रस्त है। वह दूषित मानसिकता, पाप, भय और हठवादिता तथा आत्मघृणा की भावना से पीड़ित है। हमारे विचार स्वस्थ और विवेकशील हैं और अन्त में हमारी ही जीत होनी चाहिए।

रेडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी के बम्बई में 26 से 30 दिसम्बर, 1946 तक हुए तीसरे अखिल भारतीय अधिवेशन में फिलिप स्प्रैट का समापन भाषण।

तीन

नये दर्शन की ओर

जिन बातों को कल उठाया गया था उनकी सफाई के सम्बन्ध में विचार-विमर्श के आरम्भ में मैं कुछ कहना चाहता हूँ। जो सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न उठाया गया था उस पर प्रोफेसर शिवनारायण राय ने सिद्धान्तों का संक्षिप्त विवरण देते समय अपने विचार विस्तार से प्रकट कर दिये हैं। लेकिन उन पर अलग से और अधिक स्पष्टता से विचार करने की आवश्यकता है। यह बात भौतिकवाद से सम्बन्धित हमारे दृष्टिकोण की है। फिलिप स्प्रैट ने यह प्रश्न किया है कि चूंकि हम परम्परागत मार्क्सवादियों के भौतिकवादी विचार से अपने को अलग कर रहे हैं ऐसी स्थिति में भौतिकवादी सम्बन्धी आपत्तियां हमारे दर्शन पर लागू नहीं होतीं। उनका आगे यह भी कहना है कि ऐसे बहुत से लोग होंगे और विशेष रूप से ईसाई नैतिकतावादी, जिन्हें हमारे सिद्धान्तों पर आपत्ति नहीं होगी, यदि उन्हें यह सन्तोष हो जाय कि हम भौतिकवाद के विचार को अपनाने पर जोर नहीं देते हैं। इसके परिणामस्वरूप एक कामरेड ने ईसाई नैतिकतावादियों की सहानुभूति अर्जित करने की प्रवृत्ति की निन्दा की है। इस सम्बन्ध में कुछ शब्दों में गलतफहमी दूर करने की आवश्यकता है।

सिद्धान्तों की व्याख्या करते समय शिवनारायण राय ने उनको तीन श्रेणियों में विभाजित किया है। पहली श्रेणी के सम्बन्ध में उनका कहना है कि जब तक हम कुछ मूल्यों को स्वीकार नहीं करते तब तक इतिहास का भाष्य नहीं किया जा सकता। कट्टर मार्क्सवादी परम्परा के अनुसार मूल्यों को स्वीकार करना कुछ लोगों को उचित नहीं लगता है। लेकिन इतिहास से यह प्रकट होता है कि सदाचार और नैतिकता के सिद्धान्त मानव के अनुभव के आधार पर समृद्ध हुए हैं और उनको हम आधारभूत मानवीय मूल्य कह सकते हैं। इन मूल्यों का स्रोत मानव के शारीरिक विकास–क्रम के साथ, मानव जीवन के विकास के पहले की स्थिति में पाया जाता है। नैतिक मूल्यों का विकास धार्मिक परम्परा से नहीं हुआ है। हम उनका स्रोत ईश्वर से नहीं मानते हैं। उनको शारीरिक विकास–क्रम की परम्परा में देखा जा सकता है। हमें उन लोगों को हतोत्साहित करने की आवश्यकता नहीं है जो इन मूल्यों

की व्याख्या आध्यात्मिक रूप से करना चाहते हैं। यथार्थ तो यह है कि धार्मिक वृत्ति के लोग यह स्वीकार करेंगे कि 'सर्मन आन दि माउंट' (मूसा को पहाड़ के शिखर पर प्राप्त धर्म-निर्देश) के बाद नैतिकता के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा गया है। जो लोग धार्मिक परम्परा नहीं मानते वे भी इस कथन से तब तक झगड़ा नहीं करेंगे जब तक कि वे कठमुल्लापन न अपना लें।

यदि ऐसे ईसाई हैं जो मूसा के उपदेशों के अनुसार आचरण करना चाहते हैं और हमारे साथ उसी आधार पर सहयोग के लिए तैयार हैं तो उनसे 'ईसा अथवा सबील' की कल्पनाओं को मानने के सम्बन्ध में हमें कोई आपत्ति नहीं है। अतएव हमें अपना सिद्धान्त स्थिर करते समय इस बात से डरना नहीं चाहिए कि उसे ईसाई नैतिकतावादी भी स्वीकार करने को तत्पर हैं। जो लोग अनुचित और अकारण आलोचनाओं से भयभीत रहते हैं वे सत्य के उपासक नहीं हो सकते। हमारे विचारों की उनके अपने तर्कों के आधार पर विवेचना होनी चाहिए। हमें यह देखना चाहिए कि हमारे सिद्धान्त परस्पर विरोधी न हों और उनके गुणों के आधार पर उन्हें सिद्ध किया जा सके। दूसरे उसे स्वीकार न करें तो उसकी हमें चिन्ता नहीं करनी चाहिए।

व्यवहारिक दृष्टि से हमें इस बात पर विचार करना चाहिए कि हमें नये विचारों, नये आदर्श और नये विश्वास को विकसित करने की क्यों आवश्यकता है? हम जिन आदर्शों को मानते रहे हैं उनके विफल हो जाने पर हमें यह अनुभव हुआ है कि पुराने आदर्शों को नवीन परिस्थितियों में अपनाया नहीं जा सकता है। यदि हम अपने पुराने सिद्धान्तों का ईमानदारी से पालन कर सकते तो हमें इस बहस को शुरू करने की जरूरत नहीं थी। मार्क्स ने फायरवाख के सिद्धान्तों की जो समीक्षा की उनसे हमें मार्गदर्शन लेना चाहिए। लेकिन हमें अपने अनुभव से यह ज्ञात हुआ है कि एक सौ वर्ष पहले प्रतिपादित सिद्धान्त मानव के नये ज्ञान की दृष्टि से अपर्याप्त हो चुके हैं।

एक अन्य कठिनाई पार्टी के साधारण सदस्यों की ओर से उठायी गयी है कि क्या हम नये सिद्धान्तों को स्वीकार करके पार्टी को एक दार्शनिक समाज बनाना चाहते हैं अथवा राजनीतिक पार्टी को बनाये रखना चाहते हैं। इस शंका का निवारण सिद्धान्त के राजनीतिक अंश के द्वारा किया जाना चाहिए। हम अपनी पार्टी को मिशनरी-सोसाइटी के रूप में नहीं बदलना चाहते हैं लेकिन हम यह अवश्य कहते हैं कि जो राजनीतिक लोग वास्तव में नया संसार बनाना चाहते हैं उनके मार्गदर्शन के लिए एक दर्शन होना चाहिए और सामाजिक दर्शन में नैतिकता का महत्वपूर्ण स्थान होना चाहिए। कार्ल

मार्क्स ने फायरवाख के ग्यारहवें सिद्धान्त की समीक्षा में जो बात कही थी उससे हमारा दार्शनिक विचार भिन्न नहीं है। मार्क्स ने कहा था कि दार्शनिकों ने अब तक संसार की व्याख्या करने का प्रयास किया है अब उन्हें उसका पुनर्निर्माण करना चाहिए। अतः कुछ लोगों का यह कहना सही है कि हमने जिस दार्शनिक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है वह मार्क्सवाद के राजनीतिक सिद्धान्त से अलग हटकर नहीं है। मार्क्स के कथन से आगे बढ़कर हमारा कहना है कि अब तक राजनीति में उचक्कों और मुसाहिबों का बोलबाला था, उनके बजाय दार्शनिक आधार पर विकसित सिद्धान्त के मार्गदर्शन में लोगों को राजनीति करनी चाहिए। एक राजनीतिक पार्टी के रूप में हमें राजनीतिक संघर्षों में हिस्सा लेना चाहिए लेकिन हमें अपनी राजनीति में अपने दार्शनिक सिद्धान्तों के अनुसार आचरण करना चाहिए। इन सिद्धान्तों को प्रतिपादित करते हुए हम प्रदर्शन, हड़ताल और सशस्त्र विद्रोह और पेशेवर क्रान्तिकारियों के क्रियाकलापों का समर्थन नहीं कर सकते। सक्रिय राजनीति में काम करने वाले हमारे साथियों को ऐसी राजनीतिक पार्टी के रूप में काम करना है जो हमारे नये प्रतिपादित सिद्धान्तों के अनुकूल हों। राजनीतिक पार्टी की स्थापना राजनीतिक कार्य के लिए होती है। जिन लोगों को सन्देह है उन्हें लेनिन का वह कथन याद रखना चाहिए कि कोई भी क्रान्तिकारी कार्य क्रान्तिकारी दर्शन के बिना सम्भव नहीं है। आप यह आशंका कैसे उठा सकते हैं कि स्पष्ट और सही सिद्धांत अपनाकर हमारी पार्टी राजनीतिक कार्यकलाप करने के योग्य नहीं रहेगी।

कठिनाई इस बात से पैदा होती है कि यद्यपि मार्क्सवादी राजनीति कमोवेश हमारा ध्येय है लेकिन मार्क्सवादी राजनीति और दर्शन के सम्बन्ध को नजर अंदाज कर दिया जाता है। मार्क्स ने फायरवाख के सम्बन्ध में अपना सिद्धान्त प्रतिपादित किया, उसके अनुसार उसका राजनीतिक सिद्धान्त और उसके व्यवहार का आधार उसका दार्शनिक सिद्धान्त था। श्रमिकों की पार्टियां तो राजनीतिक क्षेत्र में बहुत बाद में बनीं। हम लोग व्यवहारिक राजनीति और दार्शनिक सिद्धान्तों के प्रतिपादन का काम एक साथ कर रहे हैं। जब कार्ल मार्क्स ने अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन किया उस समय कम्युनिस्ट पार्टी नहीं थी। आज हम दोनों काम एक साथ कर रहे हैं, नये सिद्धान्त का प्रतिपादन कर रहे हैं और साथ ही उसके आधार पर राजनीति की दीवालें खड़ी कर रहे हैं। मार्क्स के समय में जो काम पचास वर्ष के अन्तर से किया गया था उसको हम साथ-साथ कर रहे हैं। इसलिए कुछ भ्रम है। कोई व्यक्ति दर्शन पर विवाद और सशस्त्र क्रान्ति की योजना एक साथ नहीं चला सकता। इसलिए

अधैर्य और तंगनजरी का भय उत्पन्न होता है। हम दर्शन को परिपक्व करने के लिए व्यवहारिक राजनीति छोड़ रहे हैं। हम अपने क्रान्तिकारी दर्शन को स्पष्ट करना चाहते हैं जिससे हमारा क्रान्तिकारी कार्य अधिक प्रभावशाली हो यद्यपि वह दिखावे में कम आयेगा और उसकी विफलता की सम्भावना भी कम होगी।

अब मैं भौतिकवाद के प्रश्न पर विचार करूंगा। हमें उन आन्दोलनों और उन लोगों के सहयोग के महत्व को कम नहीं समझना चाहिए जो पूरी तरह से हमारे दर्शन को स्वीकार नहीं करते हैं। इसके साथ ही हमें अपने दर्शन के सम्बन्ध में अस्पष्टता नहीं रखनी चाहिए। हमारे देश में ऐसे लोग अधिक नहीं होंगे जो भिन्न दर्शन मानते हुए हमारे साथ काम करने के लिए तैयार हों। लेकिन यूरोप में ऐसी स्थिति नहीं है। उदाहरण के लिए युद्धोत्तर काल में यूरोप में प्रगतिशील ईसाई आन्दोलन सामने आया है। किसी भी देश की राजनीतिक समस्याओं को उन दलों के सहयोग के बिना सुलझाया नहीं जा सकता जो ईसाई होते हुए और ईसाइयत के सिद्धान्तों में निष्ठा रखते हुए भी लोकतांत्रिक स्वतंत्रता, सामाजिक न्याय का समर्थन करते हों। ऐसी पार्टियां मध्यमवर्गीय हैं। पूंजीवादी सामाजिक व्यवस्था के नष्ट होने से जो आर्थिक असन्तुलन और सांस्कृतिक संकट उत्पन्न हुआ है उससे मध्यम वर्ग में भ्रम पैदा हो गया है। पहले उनमें से कुछ कम्युनिज्म की ओर आकृष्ट हुए थे, बाद में फासिज्म ने उन्हें पददलित किया क्योंकि कम्युनिस्ट आन्दोलन में सर्वहारा को मुख्य देवता मान लिया गया था और गैर-श्रमिक तत्वों के प्रति वह सहनशील नहीं था। सामाजिक क्रान्ति के आदर्श के सम्बन्ध में उसके गुणों और बौद्धिक विकास के सम्बन्ध में सन्देह प्रकट किया गया और कम्युनिस्ट पार्टियों में ऐसे लोगों को गौण स्थान दिया। जो भी हो, युद्ध काल के अनुभव के बाद मध्यम वर्ग का फासिज्म से विकर्षण हो गया। इसके साथ ही कम्युनिस्टों द्वारा यूरोप की पूंजीवादी सांस्कृतिक मूल्यों की निन्दा के कारण वे लोग उससे भी विकर्षित हो गये। वे अपनी सांस्कृतिक परम्परा से असहाय और निराशा के वातावरण का सामना करने की प्रेरणा प्राप्त करते हैं। लेकिन पुराने उदारवाद से उन्हें सन्तोष नहीं होता। इसलिए वे आरम्भिक ईसाइयों के सामाजिक न्याय की भावना की ओर आकृष्ट हो रहे हैं।

पूंजीवादी सामाजिक व्यवस्था का यह विघटन मार्क्सवादी व्यवस्था के अनुरूप है और इससे सांस्कृतिक और आध्यात्मिक संकट की स्थिति पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के नष्ट होने से उत्पन्न हुई है। मार्क्सवादी योजना के अनुसार एक ही बात नहीं हो रही है वह यह है कि पूंजीवादी वर्ग और सर्वहारा वर्ग का वैसा

ध्रुवीकरण नहीं हुआ है जैसा कि वर्ग संघर्ष के उग्रतम रूप में उसे प्रकट होना चाहिए था। मार्क्सवादी व्याख्या में पूंजीवादी समाज में मध्यम वर्ग की संख्या और महत्व की उपेक्षा हुई है। इस पतनशील स्थिति में मध्यम वर्ग पूंजीवाद में अपना विश्वास खोता जा रहा है, लेकिन उसका सर्वहाराकरण नहीं हो रहा है, बौद्धिक और सांस्कृतिक रूप में तो ऐसा बिल्कुल नहीं हुआ है। वह पूंजीवादी संस्कृति के मूल्यों के प्रति एकनिष्ठ है यद्यपि पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में उसका विश्वास नहीं रहा है। वह सामाजिक क्रान्ति की आवश्यकता को स्वीकार करता है लेकिन उसके सर्वहारा स्वरूप को पसन्द नहीं करता है। मध्यम वर्ग के नये सामाजिक विचार परिवर्तन के पीछे पूंजीवादी व्यवस्था का विघटन है। कहा जा सकता है कि अपना खून ही अपने विरुद्ध होता जा रहा है।

आज कुछ ऐसा ही हो रहा है। लेकिन मार्क्सवादी योजना में पूंजीवादी व्यवस्था के इस प्रकार के विघटन की तस्वीर नहीं थी और जैसा क्रान्तिकारी संकट उत्पन्न हो गया है उसे कट्टर मार्क्सवादी अपने कट्टरपन के कारण समझ नहीं पा रहे हैं यद्यपि उनकी नाक के नीचे ऐसी घटनाएं हो रही हैं। मध्यम वर्ग पूंजीवादी संस्कृति की परम्परा के प्रभाव में है। वह उसके आर्थिक सम्बन्धों और पूंजीवादी राजनीतिक व्यवहार के प्रति विद्रोहात्मक होता जा रहा है। वह इस समय की सामाजिक क्रान्ति का सक्रिय कारक बन रहा है। मध्यम वर्ग इस समय की स्थित सामाजिक व्यवस्था से असन्तुष्ट है। वह उसे पुनर्जीवित नहीं करना चाहता लेकिन वह मार्क्सवाद के कट्टर सिद्धान्तों को स्वीकार करने के लिए भी तैयार नहीं है। वह खासतौर से कम्युनिस्टों के उस राजनीतिक व्यवहार से विकर्षित है जिसमें सांस्कृतिक परम्पराओं और नैतिक मूल्यों की उपेक्षा की जाती है।

इस समय जैसी बातें हो रही हैं उनमें उस सिद्धान्त को सर्वोपरि नहीं माना जा सकता जिसके अनुसार केवल सर्वहारा ही क्रान्तिकारी वर्ग है। यह समय की पुकार है। क्रान्ति की सेना बढ़ रही है जिसकी कट्टर मार्क्सवादियों को अपेक्षा नहीं थी। इस शक्ति के बढ़ने का सही मूल्यांकन करने और उसमें कुशलता से एकता उत्पन्न करने की आवश्यकता है। इस कार्य को सामाजिक संकट के समय शक्ति सम्बन्धों के पुराने सिद्धान्त के आधार पर नहीं किया जा सकता है। मार्क्सवादी अर्थ-व्यवस्था के आधार पर मध्यम वर्ग को सामाजिक पुनर्निर्माण के आदर्श की ओर आकर्षित नहीं किया जा सकता। आधुनिक सभ्य मानव जाति की सांस्कृतिक परम्पराओं और सार्वभौमिक नैतिक मूल्यों को हमारे समय की क्रांति के दर्शन में उचित स्थान दिया जाना

चाहिए। अब तक किसी ने सामाजिक क्रांति की इस बढ़ती हुई सेना के लिए दार्शनिक मंच प्रस्तुत नहीं किया है। हमारे सिद्धांतों का महत्व इस दृष्टि से है और हम क्रांति के नये स्वरूप को तैयार करने का प्रयास कर रहे हैं, जैसा कि इस समय यूरोप में हो रहा है। इस प्रकार एक नये यूरोप का जन्म होगा और स्वतन्त्रता तथा न्याय के आधार पर नया संसार बनेगा।

इन सिद्धांतों को भौतिकवादी दर्शन के आधार पर विकसित किया गया है। इन सिद्धांतों को विकसित करने में अपने योगदान के सम्बन्ध में मैं यह निश्चित रूप से कह सकता हूं कि आधुनिक समय की क्रांति का दर्शन, भौतिकवाद दर्शन होना ही सम्भव है। मेरा यह विश्वास मेरे सभी ग्रंथों में पाया जाता है। इसका सम्बन्ध दार्शनिक और वैज्ञानिक है, उसका राजनीति से प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है। इन ग्रंथों को लिखते समय मेरे सामने पार्टी के भ्रष्ट सदस्यों के भूत नहीं थे। मैंने यह दिखलाने का प्रयास किया है कि मानव सभ्यता के विकास के प्रभात काल से सभी दर्शन जिनका विचारों के इतिहास में स्थान है वे सभी भौतिकवादी थे। इसलिए ऐसी कोई वजह नहीं है कि हम अपने दार्शनिक विश्वासों को गुप्त रखने का प्रयास करें। लेकिन अधिक उदार दार्शनिक दृष्टिकोण अपनाने का सुझाव इसलिए दिया जा रहा है जिससे कोई आशंका उत्पन्न न हो। भौतिकवाद की व्याख्या बड़े अच्छे ढंग से न होने और गलत तरीकों से किये जाने के कारण भौतिकवादियों के सम्बन्ध में यह समझा जाता है कि इन लोगों में नैतिकता नहीं होती, सिद्धांत नहीं होता और उनमें धार्मिक कट्टरपन होता है जिससे वे दूसरों की गर्दन काटने के लिए तैयार रहते हैं। इस दृष्टिकोण से भौतिकवाद के प्रति हमारी निष्ठा व्यक्त करने से आशंका उत्पन्न होती है। यदि हम इसमें सुधार कर लें तो आशंका को निर्मूल किया जा सकता है। भौतिकवाद के स्थान पर किसी दूसरे शब्द के प्रयोग के प्रश्न पर मैं वर्षों से सोचता रहा हूं। सचाई यह है कि इस शब्द का अर्थ असंगत हो गया है। इसके प्रयोग से गलत प्रभाव पड़ता है लेकिन अब तक इसके स्थान पर दूसरा उपयुक्त शब्द मिल नहीं पाया है। 'एकात्मवाद', 'प्रकृतिवाद' अथवा 'भौतिक यथार्थवाद' शब्दों पर विचार किया जा सकता है। लेकिन इनको समझाने के लिए हमें निबन्ध लिखने की जरूरत पड़ेगी। आरम्भ में हम और अधिक भ्रम ही उत्पन्न करेंगे। कम्युनिस्टों की ओर से कहा जायेगा कि हम ईमानदार नहीं हैं। हम भौतिकवाद को छोड़ रहे हैं लेकिन उसे कहने का साहस नहीं कर रहे हैं। दूसरे लोग सोचेंगे कि हम लोग भौतिकवादी हैं लेकिन हमें उसे स्वीकार करने की हिम्मत नहीं है और हम लोग उनका समर्थन पाने के लिए भ्रामक बातें कर रहे हैं।

इसलिए मैं इस शब्दावली को अधिक महत्त्व नहीं देना चाहता। यह बिल्कुल स्पष्ट है कि इतिहास सम्बन्धी हमारा सिद्धान्त और सामाजिक पुनर्निर्माण का सिद्धान्त भौतिकवादी दर्शन के आधार पर विकसित किया गया है। इसके लिए अलग से भौतिकवाद शब्द के प्रयोग की आवश्यकता नहीं है। जो लोग हमारे राजनीतिक व्यवहार को पसन्द करेंगे वे अन्ततः हमारे दार्शनिक आधार को भी स्वीकार कर लेंगे। कम्युनिस्ट हमें आदर्शवादी गांधीवादी आदि नाम से पुकारेंगे और पूर्वग्रह से ग्रसित होकर निन्दात्मक रूप से हमारे दर्शन के विरुद्ध भ्रम फैलाने का प्रयास करेंगे। अनावश्यक रूप से ऐसी जोखिम क्यों उठाई जाय? अतः जहां तक इस दस्तावेज का सम्बन्ध है मैं भौतिकवाद शब्द का उपयोग करना चाहता हूं, वह न तो आडम्बर होगा और न कठमुल्लापन।

वी. जी. कार्निक ने एक प्रश्न उठाया था। मैं समझता हूं कि मैंने अब तक जो कुछ कहा है उससे उनकी शंकाएं निर्मूल हो गयी होंगी। लेकिन मैं यह और कह सकता हूं कि 'सत्य की खोज' के स्थान पर 'अस्तित्व के लिए संघर्ष' का प्रयोग हम नहीं कर सकते और न ही 'अस्तित्व के लिए शारीरिक संघर्ष' के स्थान पर 'स्वतंत्रता की खोज का प्रारम्भिक स्वरूप' का ही उपयोग कर सकते हैं। 'अस्तित्व के लिए संघर्ष' का एक अर्थ 'स्वतन्त्रता की खोज' किया जा सकता है। पर्यावरण निरन्तर हमारे शारीरिक अवयवों को दबाना चाहते हैं और अस्तित्व के संघर्ष के द्वारा शारीरिक अवयव प्रकृति के अत्याचार से अपने को मुक्त रखना चाहते हैं। अर्धमानव विकास की स्थिति में यह कार्य यांत्रिक संघर्ष के रूप में होता था। लेकिन स्वतन्त्रता की खोज का एक उद्देश्य है। जब अस्तित्व का संघर्ष एक उद्देश्य के लिए किया जाता है उस समय मानव के विकास का स्तर ऊँचा हो चुका होता है। हमारा यह कथन कट्टर मार्क्सवाद के सिद्धांत से आगे जाता है।

स्वतंत्रता की खोज और अस्तित्व के लिए संघर्ष जब एक समान हो जाता है तो अस्तित्व का संघर्ष प्रगतिशील और सोद्देश्य हो जाता है। जैसा शिव राय ने कल कहा था, कि जब तक घटनाओं के क्रम का कुछ महत्व है तब तक घटना क्रम का अर्थ प्रगति नहीं होता। यह बात उन लोगों को स्पष्ट होगी जो आधुनिक भौतिकशास्त्र के सम्बन्ध में कुछ जानते हैं। उदाहरण के लिए कि गति की कोई दिशा का पता नहीं चलता। उसकी कोई एक दिशा नहीं होती। केवल इसलिए कि बीसवीं शताब्दी, उन्नीसवीं शताब्दी के बाद आयी है, उसका प्रगतिशील होना निश्चित नहीं है। ऐतिहासिक घटनाक्रम को कुछ महत्वपूर्ण होना चाहिए, उसका कोई निश्चित

महत्व होना चाहिए अन्यथा सामाजिक विकास यांत्रिक हो जायेगा । उदाहरण के लिए जर्मनी का 'वीमर रिपब्लिक' कैसर के शासन की अपेक्षा प्रगतिशील था । 'वीमर रिपब्लिक' इसलिए प्रगतिशील थी क्योंकि उसने मानव आकांक्षाओं को सन्तुष्ट किया था और कैसर के राज्य को खत्म किया था । हिटलर ने उन सभी को नष्ट कर दिया और उसके अधीन जर्मनी प्रतिगामी हो गया । इसलिए 'स्वतंत्रता की खोज' के स्थान पर 'अस्तित्व के संघर्ष' को नहीं रखा जा सकता ।

इस कथन से 'सत्य की खोज' को 'स्वतंत्रता की खोज' से उत्पन्न उदाहरण स्वीकार नहीं किया जा सकता । स्वतंत्रता मानव का आदर्श है जबकि 'सत्य' एक आदिभौतिक श्रेणी है। ऐसी स्थिति में एक को दूसरे से कैसे मिलाया जा सकता है । स्वतंत्रता की खोज मानव का सोद्देश्य विकास है । अब अस्तित्व का संघर्ष केवल यांत्रिक आधार पर नहीं चल रहा है । मानवीय आधार पर उसके लिए प्रकृति पर विजय पाने के लिए सोद्देश्य प्रयास किए जा रहे हैं । मानव का अपने अमानव पूर्वजों से क्या अन्तर है, इसे समझना चाहिए । अमानव पूर्वज पर्यावरण से रक्षा के अनुरूप बनाने के लिए केवल अपने हाथों का उपयोग करता था । जिस क्षण बन्दर ने डाल तोड़ कर उससे फल तोड़ने की बात मालूम की थी उससे यांत्रिक विकास-क्रम समाप्त हो गया और सोद्देश्यता मानव के आवयविक विकास का मुख्य लक्षण हो गया । उस क्षण से मानव का प्रकृति पर विजय प्राप्त करने का अभियान शुरू हो गया और अस्तित्व के संघर्ष ने स्वतंत्रता की खोज का रूप ग्रहण कर लिया । यह शुरुआत बहुत मामूली थी । हम बीसवीं शताब्दी में उसकी आधुनिक प्रौद्योगिकी और प्रकृति पर विजय प्राप्त करने के लिए शक्तिशाली औजारों को प्राप्त कर चुके हैं । मानव ने इन सबका आविष्कार केवल अपने अस्तित्व के लिए ही नहीं वरन् स्वतंत्रता की खोज के लिए किया है । इसलिए हम कहते हैं कि 'सत्य की खोज' 'स्वतंत्रता की खोज' का परिणाम है । विज्ञान 'सत्य की खोज' है और वह मानव की 'स्वतंत्रता की खोज' का परिणाम है । इसलिए हम यह कहते हैं कि 'सत्य की खोज' मानव की स्वतंत्रता की खोज का परिणाम है । मानव के शारीरिक विकास के समय से स्वतंत्रता की खोज सोद्देश्य हो गयी और मानव ने प्रकृति पर विजय प्राप्त करने का प्रयास शुरू कर दिया । प्रकृति पर विजय प्राप्त करने के लिए उसका ज्ञान होना आवश्यक है । इस प्रकार विज्ञान मानव की 'स्वतंत्रता की खोज' की एक उपज है और विज्ञान से सत्य प्रकट होता है ।

अन्तिम बात यह है कि सत्य ज्ञान का घन परिमाण है । सत्य क्या है ?

सत्य वस्तुगत यथार्थ के अनुकूल होना चाहिए । वैज्ञानिक ज्ञान से हमें उस क्षेत्र की पूरी तस्वीर नहीं मिलती, जिसका हम अध्ययन करना चाहते हैं । हमें या तो पूरी प्रकृति का ज्ञान होता है अथवा उसके किसी एक क्षेत्र का । इसीलिए हम कहते हैं कि सत्य ज्ञान में निहित घन परिमाण है । हमें यह ज्ञान है कि दो और दो का जोड़ चार होता है । यह सत्य है । आप कोई दो वस्तुएं लें और उनमें दो अन्य जोड़ें तो उनका फल सदैव चार होगा । यह अनिवार्य दृश्यमान सत्य है । ऐसा सभी परिस्थितियों में होता है । हम कह सकते हैं कि सत्य गणित की कल्पना है । लेकिन गणित के द्वारा वस्तुओं की नाप की जा सकती है, अन्यथा उनकी नाप नहीं हो सकती । यथार्थ सम्बन्धी वक्तव्यों की जांच प्रत्यक्ष अनुभव के बाहर होने पर उनकी नाप नहीं हो पाती । इस प्रकार स्वतंत्रता की जांच ज्ञान का परिणाम है और ज्ञान का परिमाण सत्य है । ज्ञान सदैव यथार्थ और सत्य से परिचय कराता है । सत्य यथार्थ का पर्याय है अतः ज्ञान ही सत्य है । इस प्रकार स्वतंत्रता, ज्ञान और सत्य इन सभी को दर्शन में एक साथ रखा जा सकता है जिनसे अस्तित्व, भौतिक, मानसिक अथवा नैतिक सभी स्वरूपों को जाना जा सकता है । इस प्रकार का समग्र दर्शन जो द्वैतवाद को खत्म करता है उसमें नैतिकता और प्रकृतिवाद दोनों को एक साथ रखा जा सकता है । हमारे सिद्धान्त में इसको ही परिभाषित करने का प्रयास किया गया है । 'सत्य की खोज' 'स्वतन्त्रता की खोज' का प्रतिफल है । इसकी भूमिका शारीरिक विकास क्रम के उद्देश्य अस्तित्व के संघर्ष को आगे बढ़ाने में महत्वपूर्ण है । इसके आधार पर सार्वभौमिक नैतिक मूल्यों को स्वीकार किया जा सकता है । मानव की स्वतन्त्रता के उद्देश्य को मानने वाले सामाजिक पुनर्निर्माण के किसी भी सिद्धान्त और व्यवहार से उसका विरोध नहीं है । हमारे दर्शन में, विवेक कोई आधिभौतिक कल्पना नहीं है । उसका सम्बन्ध भौतिक निश्चयवाद से है अतः मानव अनिवार्य रूप से विवेकी है । नैतिक आचरण भी किसी अतिमानव अथवा आध्यात्मिक निर्देश से संबंधित नहीं है । भौतिक दृष्टि (शारीरिक दृष्टि) से वह निश्चित होता है । मानव नैतिक इसलिए है क्योंकि वह विवेकी है ।

एस. के. दास ने जो आशंका प्रकट की है उसके सम्बन्ध में कुछ शब्द कहने हैं । उन्होंने विचारों की गतिशीलता और सामाजिक विकास की प्रक्रिया को समानान्तर रखने के सम्बन्ध में यह शंका प्रकट की है कि इससे द्वैधता प्रकट होती है । उनको यह प्रतीत होता है कि जब हम ऐतिहासिक घटना और विचारों के आन्दोलन में अन्तर करते हैं तो उसमें यह द्वैध भावना आ जाती है । द्वैध भावना की गलती को दूर रखने की उनकी चिन्ता में हम

सब सहभागी हैं। लेकिन हमारे सिद्धान्त में प्रतिपादित दर्शन में द्वैध भावना नहीं है। शारीरिक प्रक्रिया भौतिक और रसायनिक प्रक्रिया होती है और अन्ततः परमाणु अथवा विद्युत क्षेत्र से उनका सम्बन्ध होता है। इस प्रकार मानसिक क्रिया का आरम्भ जीवित संसार के भौतिक अस्तित्व से होता है। विचार आधिभौतिक रूप से उत्पन्न नहीं होते जो मानव में कहीं बाहर से डाल दिये जायं और न उनका अस्तित्व भौतिक जगत् से अलग होता है। इस प्रकार विचारों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में हमारे दार्शनिक सिद्धान्त में द्वैधता नहीं है। दर्शन के आधार के रूप में हम एकात्मवाद को पसन्द करते हैं लेकिन उसे जीवन के दृश्यमान बहुसंख्यक घटनाओं पर लागू करना गलत होगा। दर्शन के अपने आधारभूत सिद्धान्त को प्रतिपादित करने के सम्बन्ध में हमें इतना ही कहना है कि यद्यपि विचार अपने आप विकसित होते हैं लेकिन उनकी उत्पत्ति भौतिक संसार की पृष्ठभूमि में होती है। एक बार विचार उत्पन्न हो जाने पर उनका अस्तित्व स्वतंत्र हो जाता है। विचारों की एक पीढ़ी के बाद भौतिक घटनाओं का प्रवाह बंद जाता है, कहा जा सकता है कि संसार में शारीरिक विकास की प्रक्रिया एक ऊंचे स्तर पर शुरू होती है। उसमें विचारों की गतिशीलता और भौतिक तथ्यों, दोनों का समावेश रहता है। मस्तिष्क और भौतिक तत्व दोनों एक समान वस्तुएं हैं। इस प्रकार वे दो वस्तुगत यथार्थ हैं। डे कार्त ने आधा रास्ता ही तय किया। उसने भौतिक यथार्थ को स्वीकार किया, लेकिन वह मस्तिष्क और भौतिक पदार्थों की दो धाराओं को एक पुल बना कर जोड़ नहीं सका। उसके बाद वैज्ञानिक दर्शन में द्वैधवाद का दूषित प्रभाव आ गया। यदि हम डे कार्त को गम्भीरता से पढ़ें तो हमें यह प्रतीत होगा कि उसने द्वैधता को खत्म करने का रास्ता ढूंढ लिया था, लेकिन फांसी की सजा के भय से वह उसे बतलाने का साहस नहीं कर सका। उसने पूरी बात नहीं कही। उसने केवल इतना कहा कि पशु मशीन होते हैं। क्या मानव भी पशु नहीं है? डे कार्त इस प्रश्न को टाल गया क्योंकि वह इसके विरुद्ध बयान नहीं दे सकता था। यह बात लोगों को नहीं मालूम है कि उसके एक शिष्य ने अपने गुरु के विचार को क्रांतिकारी परिणति तक पहुंचाया। डि. ला मैटरी ने अपनी किताब 'ला हो ने मशीन' (मानव मशीन) नाम से प्रकाशित की। शारीरिक ज्ञान उस समय तक डे कार्त के समय से आगे बढ़ चुका था और उसके आधार पर मनमाने ढंग से द्वैतवाद का सिद्धान्त अपनाने की बात समाप्त हो गयी थी।

वैज्ञानिक ज्ञान की सहायता से दर्शन डे कार्त द्वारा मनमाने ढंग से प्रतिपादित द्वैतवाद के आगे जा सकता है और ऐसा पुल बनाया जा सकता

है जो मानसिक संसार और भौतिक संसार की दूरी को समाप्त कर देता है। लेकिन वैज्ञानिक ज्ञान के उपलब्ध होने के बावजूद द्वैतवाद का दूषित चक्र समाप्त नहीं हुआ, जब तक यह निश्चित नहीं हो गया कि एकात्मवाद को मानने से दृश्यमान संसार के बहुत से रूपों को अस्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है। हमने यह दिखाया है कि विचारों के एक बार उत्पन्न होने से उनकी स्वतन्त्र सत्ता हो जाती है और वे भौतिक यथार्थ से अलग अपने आप विकसित होते हैं। विचारों के वस्तुगत यथार्थ को अस्वीकार करने से एकात्मवाद खराब होता है। यहां समस्या इस बात की व्याख्या करने की है कि विचार भौतिक संसार से अलग रह कर कैसे विकसित होते हैं। हमने इस समस्या का निदान दोहरी प्रक्रिया (मानसिक और भौतिक) दोनों की उत्पत्ति शारीरिक विश्व से मानी है, उस प्रक्रिया में सामाजिक विकास और दोनों की समान उत्पत्ति की बात शामिल है।

इतना कहना ही काफी नहीं है कि सांस्कृतिक और नैतिक पद्धतियां केवल आर्थिक सम्बन्धों के ऊपरी ढांचे हैं। उनका विकास कैसे होता है इसकी व्याख्या करने की जरूरत है। यह धार्मिक भावना है कि आत्मा भौतिक जगत् से अलग होती है, वह ही आध्यात्मिक जीवन को प्रेरित करती है। आदर्शवादी दर्शन इस बात की सफाई नहीं देते और इसको रहस्यवादी बना देते हैं। यदि दर्शन को इस प्रकार के अंधकूप से निकालना है तो विचारों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में यह स्वीकार करना पड़ेगा कि वे भी वस्तुगत रूप से यथार्थ हैं और उनकी उत्पत्ति भौतिक जगत् के भीतर होती है। हमने यही काम किया है।

यह बात हमारे दर्शन का केन्द्र बिन्दु है और दार्शनिक विचारों में इसे हमारा योगदान कहा जा सकता है। जब यह विचार पूरी तरह विकसित हो जायेगा तो वह एक नये दर्शन का रूप ले लेगा जो न भौतिकवाद होगा और न आदर्शवाद, जैसा कि अब तक समझा जाता है। जहां तक शास्त्रीय रचना का सम्बन्ध है हम आदर्शवाद को अस्वीकार कर चुके हैं। जिस अंश तक आदर्शवाद मानसिक संसार की स्वायत्तता का दावेदार है, हम उसे मानते हैं। मानव मस्तिष्क की सृजनात्मकता को अस्वीकार किये बिना विचारों के वस्तुगत यथार्थ के विरुद्ध आपत्ति नहीं उठायी जा सकती। एकात्मवाद सख्ती से इतिहास पर लागू नहीं किया जा सकता। यदि आप इतिहास को केवल आर्थिक दृष्टि से देखते हैं तो वह उसका एक रूप है। इतिहास का अध्ययन समस्त मानव विकास—मानसिक, बौद्धिक और सामाजिक सभी को एक साथ मिलाकर करना चाहिए। हमें विचारों और भौतिक घटनाओं की समानान्तर

धाराओं को देखना चाहिए। स्थापित आर्थिक सम्बन्धों से जोड़ कर जब हम एक विचार रखते हैं तो यह उन्हें सिर के बल खड़ा करने के समान है। इतिहास का यह अनुभव है कि एक नवीन सामाजिक व्यवस्था के पूर्व उसका सिद्धान्त विकसित होता है। नये विचारों से पुराने स्थापित आर्थिक संबंधों को नष्ट करके उनके स्थान पर नये सम्बन्धों को बनाने की प्रेरणा मिलती है। कार्ल मार्क्स ने भी इसको अस्वीकार नहीं किया है। अतः हमें इस सवाल का जवाब देना है : किस प्रकार क्रान्तिकारी विचार विकसित होता है ? नई व्यवस्था का विचार पुरानी व्यवस्थाओं से उत्पन्न होता है। यह कहने का तात्पर्य यह है कि विचारों का स्वयं अपना इतिहास होता है। नये विचार अथवा सिद्धान्त की उत्पत्ति और नवीन सामाजिक वर्ग की उत्पत्ति आकस्मिक नहीं है जो यों ही अपने आप हो जाय। नया सिद्धान्त मानव के विकास की आकांक्षा की अभिव्यक्ति है। उसी आकांक्षा के आधार पर सामाजिक गतिशीलता उत्पन्न होती है और उसके अनुरूप नया वर्ग पैदा होता है जो नये सिद्धान्त का औचित्य स्वीकार करके उसको कार्य रूप में लाने के लिए आगे बढ़ता है।

बम्बई में रेडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी के तीसरे अखिल भारतीय अधिवेशन में 25 दिसम्बर, 1947 को दिया गया एम. एन. राय का भाषण।

चार

भौतिकवाद और कट्टर मार्क्सवाद

सिद्धान्त का यह अंश उसके अमूर्त विचारों से है, इसके सम्बन्ध में तर्कसंगतता की जाँच तर्कों के आधार पर की जानी चाहिए। दूसरे हिस्से में एक काल्पनिक भाग की व्याख्या की गयी है। 'कल्पना' से लोगों को बू आती है, हमें इस शब्द का प्रयोग नहीं करना चाहिए। लेकिन हमें इसके सम्बन्ध में स्पष्ट होना चाहिए कि कोई उसके भावी स्वरूप को निश्चित रूप से प्रकट नहीं कर सकता। इतिहास की आर्थिक व्याख्या करने वाले कुछ लोग भविष्यवाणी करने का दावा करते हैं कि भविष्य में मानव जाति का क्या रूप होगा। मानव जाति की जन्मकुण्डली बनाने के इस तरीके के विरुद्ध मैं गम्भीर चेतावनी देना चाहता हूं। आधुनिक युग के अनुभवों ने इसको अविश्वसनीय सिद्ध कर दिया है। मानव जाति के भविष्य के सम्बन्ध में मोटे अनुमान से अधिक उसके भावी स्वरूप को निश्चित करना मानव की विचार शक्ति से परे है और भविष्य की सभी कल्पनाएं काल्पनिक ही कही जायेंगी।

हम अपनी राजनीतिक कार्रवाइयों के सम्बन्ध में कोई काल्पनिक चित्र नहीं बनाना चाहते हैं। सिद्धान्त पत्र के आगे के भाग में रेडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी के ढांचे और रेडिकल डेमोक्रेटिक समाज की मोटी तस्वीर प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। इस सम्बन्ध में जो भी बातें लिखी गयी हैं वे प्रयोग के लिए हैं और कुछ बातों को माना गया है अतः अनुभव के आधार पर उन्हें बदला जा सकता है और उनको नया रूप दिया जा सकता है। लेकिन सिद्धान्त के इस अंश के सही अथवा गलत होने के संबंध में सैद्धान्तिक रूप से विचार किया जाना चाहिए। इनके द्वारा हम केवल विचार के आधार पर ऐसे सिद्धान्त का प्रतिपादन करने का प्रयास कर रहे हैं जो स्थान और समय की सीमाओं से आगे हो और जिनको तर्क के द्वारा प्रतिपादित किया जा सके। इसके लिए 'प्रयोगात्मक' शब्द के उपयोग करने की आवश्यकता नहीं है। विचार जगत् में गणितीय निश्चितता के साथ तार्किक आधार पर निष्कर्ष निकाला जा सकता है। विचारों की तार्किकता के सम्बन्ध में परीक्षा की जा सकती है और यदि उनकी तार्किकता सिद्ध हो जाय तो उसके निष्कर्ष हमारे लिए वैध होंगे, केवल प्रयोग के लिए ही नहीं, वरन् उनके आधार पर हम

उन्हें अन्तिम रूप से स्वीकार कर सकते हैं, शर्त यह है कि उनके तरीकों की प्रक्रिया भ्रामक न हो और निष्कर्षों में परस्पर आत्मविरोध न हो।

सिद्धान्त के इस अंश के सम्बन्ध में दो आपत्तियां उठायी गयी हैं और दोनों आधारभूत हैं। पहली आपत्ति आदर्शवाद और भौतिकवाद के सम्बन्ध की है, भौतिक और सामाजिक-ऐतिहासिक प्रक्रिया और विचारों की गतिशीलता के सम्बन्ध में है। इस सम्बन्ध में, अपने पहले भाषण में मैं जो कुछ कह चुका हूं उससे कुछ अधिक कहना सम्भव नहीं है। यदि इस मामले में अब भी कुछ भ्रम है तो उसका कारण दृष्टिकोण का अन्तर कहा जा सकता है। हम अपनी ही छाया से भाग नहीं सकते हैं। हमारी शिक्षा खास तरह से हुई है और उसके विचार हमारे अन्तर मन को मथते रहते हैं। एक क्षण के लिए, समस्या यह है कि मैं जिस दृष्टिकोण से समस्या का एक निदान उपस्थित करता हूँ वह दूसरे दृष्टिकोण को मानने वाले लोगों को स्वीकार नहीं होता है। चाहे वे स्वयं इसके प्रति सजग न हों, वे इस समस्या को घबड़ाने वाली समस्या मान लेते हैं अथवा उन्हें निदान से सन्तोष नहीं होता है। अन्यथा इस पर बहस की आवश्यकता ही नहीं रहती।

अब मैं मौलिक प्रश्नों पर आता हूं। हमें समस्या के सम्बन्ध में अपने दृष्टिकोणों के सम्बन्ध में अपने विचारों को देखना पड़ेगा। हमारे कुछ कामरेड अब तक कट्टर मार्क्सवादियों की व्याख्या के अनुसार भौतिकवाद को स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार शास्त्र में जो लिखा है वही अन्तिम सत्य है। इन सिद्धान्तों में कुछ ऐसी बातों का समावेश है जिनको भौतिकवादी दृष्टिकोण को कठमुल्लेपन से अपनाकर संगत सिद्ध नहीं किया जा सकता। मैं स्वयं भौतिकवादी दर्शन की सुदृढ़ शिला पर खड़ा हूं। लेकिन भौतिकवादी दर्शन क्या है? ऐसा प्रतीत होता है कि भौतिकवादी दर्शन में कुछ मतभेद हैं। मेरे विचार से भौतिकवादी दर्शन और आर्थिक निश्चयवाद एक समान नहीं है। आर्थिक निश्चयवाद ऐसे समाज में भी लागू हो सकता है जो सामाजिक विकास के सभी स्वरूपों की व्याख्या न करता हो। भौतिकवाद एक अखिल विश्व का दर्शन है जो प्रकृति के सभी क्रियाकलापों की समीक्षा करता है जिसमें समाज भी शामिल है। मैं इस बात को कुछ दूरी तक स्पष्ट कर चुका हूं। अब मुझे इतना ही कहना है कि जब तक आप लोगों में से कुछ अथवा कोई व्यक्ति यह कहने पर जोर नहीं देता है कि इतिहास की आर्थिक व्याख्या के तरीके को भौतिकवादी दर्शन मानना चाहिए तब इस सिद्धान्त में कोई मौलिक गलती नहीं है। इस सिद्धान्त में विचारों की गतिशीलता और सामाजिक-ऐतिहासिक विकास के द्वन्द्वात्मक स्वरूप दोनों को मिलाने का

प्रयास किया गया है। मैं इस पर समझौता करने की अपील करूंगा। यदि हम यह स्वीकार कर लें कि विभिन्न समय में बदलते हुए आर्थिक सम्बन्धों के आधार पर विचार केवल ऊपरी ढांचा मात्र हैं तो हम बाकी बातों पर भी समान निष्कर्षों पर नहीं पहुंच सकते हैं। हमारा दर्शन इसी दृष्टि से भौतिकवादी दर्शन से भिन्न है और इसी आधार पर कट्टर मार्क्सवाद से हमारा मतभेद है। विस्तृत, तर्कसंगत, निरन्तर दर्शन के रूप में भौतिकवाद वस्तुगत यथार्थ को अस्वीकार नहीं करता है क्योंकि उनकी उत्पत्ति भौतिक जगत् से सिद्ध की जा सकती है। यदि विचार केवल बदलते हुए आर्थिक सम्बन्धों के सहायक उत्पादन नहीं हैं तो उनका अपना भी इतिहास होना चाहिए। हम इसी बात को विचारों की गतिशीलता कहते हैं, क्योंकि समस्त इतिहास में नये विचारों ने नये कार्यकलापों की प्रेरणा दी जिनसे इतिहास में नये अध्याय जुड़े हैं।

यह सुझाव आया है कि हम अपने सिद्धान्त में 'भौतिकवाद' शब्द का प्रयोग न करें। इसका क्या अर्थ है? इसका यही अर्थ होगा कि हम जो कुछ कह रहे हैं वह भौतिकवाद के अनुकूल नहीं है अथवा हमें अपने दर्शन से भौतिकवाद को निकाल देना चाहिए। यदि यही आशय है तो उसे साफ तौर से कहना चाहिए। आप लोगों में कुछ ऐसे लोग हो सकते हैं जो यह समझते हैं कि 'भौतिकवाद' का प्रयोग करने से हमारे विरुद्ध बिना विचार पक्षपात किया जायेगा। स्पष्ट है कि हम में से कुछ लोग भौतिकवाद के सम्बन्ध में गलतफहमी के शिकार हैं। भौतिकवादी दर्शन में जैसा कि मैं उसे समझा हूँ यह बात निहित नहीं है कि विचारों का अपना स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। हम मानव जाति की उत्पत्ति के समय से तार्किक प्रक्रिया और विचारों के विकास का सम्बन्ध देख सकते हैं और सामाजिक आन्दोलनों से उनको सम्बन्धित करने की आवश्यकता अनिवार्य नहीं है। मैं इस दृष्टिकोण को अस्वीकार करता हूं कि नैतिक मूल्य, सांस्कृतिक ढांचे और विचारों के आंदोलन केवल स्थापित आर्थिक सम्बन्धों के आधार पर विकसित ऊपरी ढांचे मात्र हैं। यह कहा जा चुका है कि विचारों और ऐतिहासिक घटना-क्रम में सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है। हां, ऐसा उलटे तरीके से हो सकता है, मार्क्सवादी अर्थ में नहीं। यदि आप इस सम्बन्ध में यह मान लें कि विचारों में कारक बनने की शक्ति है तो इतिहास की आर्थिक व्याख्या अलग हो जाती है। इन सिद्धान्तों में यह साफ तौर से स्वीकार किया गया है कि विचारों के आन्दोलनों और सामाजिक गतिशीलता में सम्बन्ध है।

ऐसा प्रतीत होता है कि आप लोग इस बात से आतंकित हैं कि आपको आदर्शवादी कहा जायेगा। हमें सत्य को, जहां से भी वह मिले, स्वीकार

करने में संकोच नहीं करना चाहिए और उसके आधार पर विचार और कार्य करना चाहिए, यदि हम अपने को वैज्ञानिक और दार्शनिक मानते हैं। मैं समझता हूं कि हम सत्य और नैतिकता के सापेक्षवादी दृष्टिकोण को अस्वीकार करते हैं अन्यथा राजनीतिक सिद्धान्त और कार्यपद्धति के नये सिद्धान्त विकसित करने के लिए इस सब परिश्रम की आवश्यकता नहीं थी।

आदर्शवाद के भय के सम्बन्ध में जो आप में से कुछ लोगों को पीड़ित कर रहा है, मुझे कुछ और कहना है। एक बार फिर मैं यह कहना चाहता हूं कि मैं पक्के तौर से, बिना किसी मिलावट के दार्शनिक रूप से भौतिकवादी हूं। मेरा मत है कि भौतिकवाद ही अकेला सम्भव दर्शन है और सभी अन्य दर्शन हमको भौतिक जगत् के बाहर ले जाते हैं और रहस्य तथा आध्यात्मिक जगत् में ले जाते हैं जिसका शासक ईश्वर है। इस बात में कोई अन्तर नहीं पड़ता कि सृष्टि शून्य की उत्पत्ति है और उसकी कल्पना गणितीय आधार पर की जाय तो एक स्वयं अन्तर्विरोध है अथवा उसे मानव आकार के ईश्वर की कल्पना अथवा बहुदेववाद अथवा अन्य किसी ढंग से ईश्वर की कल्पना का आधुनिक मानव का प्रयास हो, उन सभी का यही परिणाम निकलता है कि इन विचारों से मानव की स्वतंत्रता नष्ट हो जाती है। यदि दर्शन केवल मनुष्य के अस्तित्व और उसके अनुरूप परिवर्तन की समीक्षा करना है और वह हम लोगों को भाग्य के पंजे से मुक्त नहीं कर सकता तो फिर सामान्य धार्मिक भावना को स्वीकार करके सन्तुष्ट क्यों नहीं हुआ जा सकता। भौतिकवाद को छोड़कर सभी आध्यात्मिक दर्शन गैर-ईमानदार धर्म हैं जो धार्मिकता को पिछले दरवाजे से लाना चाहते हैं। शायद उनके प्रतिपादक लोग यह अनुभव नहीं करते लेकिन इससे उनकी बौद्धिक कलाबाजी का महत्व नहीं बदल जाता। और यदि वे उसका सही महत्व समझ लें और बौद्धिक ईमानदारी अपना लें तो सभी गैर-भौतिकवादी अथवा भौतिकवाद विरोधी दर्शन मानने वाले कांट के महत्वपूर्ण कथन को दोहरायेंगे—'दर्शन ऐसे स्थान पर पहुंचता है जहां उसे विश्वास के लिए स्थान छोड़ देना चाहिए।' सम्भवत: कांट में बौद्धिक ईमानदारी थी और कांट को यहां तक भौतिकवादी माना जा सकता है जो अपने दर्शन से भी अलग हो जाता है।

पक्षपात से अलग भौतिकवाद अपने उन कट्टर हिमायतियों के कारण बदनाम हुआ है जो स्वयं दार्शनिक रूप से सोचने के अयोग्य हैं क्योंकि वे मानव की आत्मा के सर्वोच्च महत्व को समझ नहीं पाते हैं। 'मानव' शब्द पर विशेष रूप से ध्यान देने की आवश्यकता है। वे लोग मानव मस्तिष्क की सृजनात्मकता को अस्वीकार करते हैं। भौतिकवाद को कट्टरपंथी कठमु-

ल्लापन के धरातल से ऊपर उठाया जाना चाहिए और उसको प्रकृति के बढ़ते हुए ज्ञान के अनुकूल बनाया जाना चाहिए। भौतिकवाद से मनोविज्ञान की ओर उसे आगे बढ़ना चाहिए। यदि सभी विचारशील मस्तिष्क वाले व्यक्तियों की उसमें निष्ठा उत्पन्न करनी है और उसे स्वतंत्रता का सिद्धान्त बनाना है तो निस्सन्देह सभी स्वतंत्रता प्रेमियों को इसको समझना चाहिए। इन सिद्धान्तों के द्वारा मेरा यही अभिप्राय है। मैं इसकी मान्यता के साथ खड़ा हूं अथवा उसके साथ ही गिरूंगा। मैं दावे के साथ कह सकता हूं कि सभी मानव स्वतंत्रता प्रेमी केवल राष्ट्रीय स्वतंत्रता अथवा वर्ग मुक्ति के समर्थक नहीं। सभी को यह दृष्टिकोण अपनाना चाहिए।

अत: मुझे पुन: आदर्शवाद के भूत की ओर लौटना चाहिए और उसका सामना करना चाहिए। मैंने दर्शन के संस्थापकों से लेकर कार्ल मार्क्स तक के दर्शनों और विचारों के इतिहास का विस्तारपूर्वक, पूरे ध्यान से और विवेचनात्मक दृष्टि से अध्ययन किया है अतएव मैं विचारों के इतिहास को अस्वीकार करने का कोई औचित्य नहीं समझता। इसके विपरीत, कार्ल मार्क्स की अपेक्षा हीगेल सत्य के अधिक निकट था, जब उसने कहा कि दर्शन का इतिहास सभ्यता का इतिहास है। आज इतिहास क्या है? वह 'वाइको' (वीको) के समय में कैसा था, जब इतिहास ने विज्ञान का रूप लिया था? इतिहास को वैज्ञानिक आधार पर लिखने में भाषाशास्त्र एक महत्वपूर्ण अस्त्र है। भाषाशास्त्र इतिहास की भाषा है और भाषा का इतिहास विचारों का इतिहास है, इसका अर्थ है कि हम इतिहास तभी लिख सकते हैं जब हम विचारों का इतिहास जानते हों। सामाजिक और राजनीतिक इतिहास में बड़े अन्तराल हैं जिनको पूरा करने की आवश्यकता है। लेकिन सौभाग्य से बर्बर और प्रतिगामी क्रांतियां विचारों के इतिहास के अध्याय को एकदम नष्ट नहीं कर पायीं। प्रारम्भिक ईसाई धर्मशास्त्रियों के आरम्भिक लेखन से हम रोम पर बर्बर लोगों के आक्रमण के बाद के युग के इतिहास का पुनर्लेखन कर सकते हैं—वह मध्य युग का राजनीतिक और सामाजिक इतिहास हो सकता है। भारत के इतिहास लेखन के सम्बन्ध में भी हमें यही तरीका अपनाना पड़ेगा। इस कार्य में हमें अधिक कठिनाई का सामना करना पड़ेगा—विचारों के इतिहास के खोये अध्यायों, विशेष रूप से बौद्ध मत के पतन के बाद के इतिहास को ढूंढना पड़ेगा। इस कठिनाई को तर्क के आधार पर दूर किया जा सकता है, यह तर्क विचारों के विकास से सम्बन्धित है। दोनों अन्तराल विचारों के इतिहास के अलग-अलग अध्याय हैं जिनको तार्किक ढंग से जोड़ा जा सकता है और बीच के युग के इतिहास का पुनर्लेखन तार्किक ढंग से किया जा सकता है।

इस सम्बन्ध में बहुत से प्रमाण दिये जा सकते हैं कि विचारों के इतिहास के निष्कर्षों से सामाजिक एवं राजनीतिक इतिहास के अन्तरालों को पूरा किया जा सकता है। ऐसा करना इसलिए सम्भव है कि प्रत्येक युग निर्माणकारी सामाजिक और राजनीतिक घटना के पहले उनसे सम्बन्धित विचार सामने आये। इस बात को दोहराने की आवश्यकता है कि इतिहास के किसी युग में विचारों की दैवी उत्पत्ति नहीं हुई। इतिहास के हर युग के विचारों की शारीरिक उत्पत्ति को खोजा जा सकता है जो भौतिक जगत् की पृष्ठभूमि में उत्पन्न होते हैं। उदाहरण के लिए पुनर्जागरण और सुधार आंदोलनों के इतिहास को लिया जा सकता है। दोनों आन्दोलनों को पूंजीवादी माना जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि इन सैद्धान्तिक विचारों की उत्पत्ति व्यवसायिक वर्गों की उत्पत्ति से सम्बन्धित है। इतिहास की दृष्टि से यह कहना सही नहीं है। उस समय जैनोवा समृद्ध व्यापारिक गणतंत्र था, लेकिन वहां पुनर्जागरण का कोई नेता पैदा नहीं हुआ। वहां मानववाद की भावना भी अनुपस्थित थी। यही हाल वेनिस का पुनर्जागरण के उत्तर काल तक था। दूसरी ओर फ्लोरेंस में पुनर्जागरण के महान नेता पैदा हुए थे, लेकिन वह व्यापारिक केन्द्र नहीं था। मैडीसी पूंजीवादी नहीं था, सामाजिक दृष्टि से वह मध्ययुगीन प्रतिनिधि था। इस प्रकार पुनर्जागरण, मानववाद और उन्नतिशील पूंजीवाद में सम्बन्ध की कोई कड़ी नहीं थी। तत्कालीन पूंजीवाद ने पुनर्जागरण का समर्थन नहीं किया था। इसी आधार पर कुछ समाजशास्त्रियों ने पुनर्जागरण को अभिजात्य विरोधी प्रतिक्रियावादी आंदोलन बताकर उसकी निन्दा की है। लेकिन यदि हम इतिहास को एक प्रगतिशील प्रक्रिया मानना चाहते हैं तो हमें पुनर्जागरण के प्रेरणा स्रोतों को ढूंढना पड़ेगा। उसका स्रोत यूनान और रोम की महान प्रतिमापूजक संस्कृति में मिलता है। पुनर्जागरण ईश्वर के विरुद्ध मानव का विद्रोह था, अपने इसी स्वरूप के कारण वह आधुनिक सभ्यता और स्वतंत्रता के दर्शन भौतिकवाद का वाहक था।

अगले अध्याय 'सुधारवाद' के सम्बन्ध में विचार करने पर मालूम होता है कि काल्विन और लूथर दोनों पूंजीवाद के प्रतिनिधि थे। फ्रांस में वह सेना के छोटे अफसरों का विद्रोह था जो सामन्ती अभिजात्य वर्गों से आये थे। वहाँ के सम्राट् ने वित्तीय हितों के दबाव में इटली से अपनी लड़ाइयां खत्म कर दी थीं। हजारों फौजी अफसर बेकार हो गये थे। 'ह्यूगनाट' लोगों का समर्थन बढ़ गया था और पूंजीवाद ने उस आंदोलन का दमन किया था। जर्मनी में लूथर ने रोम के विरुद्ध विद्रोह का नेतृत्व किया था, उसको वहां के सामन्ती राजकुमारों से समर्थन मिला था जो 'होली साम्राज्य'

से अलग होना चाहते थे। जब पूंजीवाद सत्ता में आया उस समय उत्पादन के साधनों पर ऐसा आधिपत्य नहीं था कि वह अपनी स्थिति को सुदृढ़ कर सकता। उन्हें अपनी आकांक्षाओं को पूरा करने के लिए आध्यात्मिक समर्थन की आवश्यकता थी। उन्होंने देखा कि काल्विन और लूथर के विचारों को अपनाने से उनका लक्ष्य प्राप्त हो सकता है। उन लोगों ने प्रोटेस्ट्रेन्ट ईसाई धर्म को अपना धर्म स्वीकार कर लिया। जैसा मैं समझता हूं इसमें कार्य-कारण सम्बन्ध नहीं था। मैलीनोवस्की अथवा वैस्टर मार्क ने यह परिभाषा प्रस्तुत की है कि विवेकवाद के भ्रामक आवरण में मिथ्या-विश्वास उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार इतिहास की आर्थिक व्याख्या को निश्चयवाद पर गलत ढंग से आरोपित किया जाता है। दो बातें एक साथ हो सकती हैं, इससे यह सिद्ध नहीं होता कि एक से दूसरे की उत्पत्ति हुई है। इस प्रकार सोचने से महान भ्रम पैदा हुए हैं।

मैं यह नहीं समझता कि भौतिकवादी दर्शन इतिहास की आर्थिक व्याख्या की पुष्टि करता है। भौतिकवादी दर्शन का सार-तत्व यह है कि वह एकात्मवादी दर्शन है। आर्थिक निश्चयता द्वैतवादी कल्पना है अतः उसे भौतिकवाद से नहीं निकाला जा सकता और उन दोनों को समान भी नहीं बताया जा सकता। द्वैतवाद से कारक की भावना को मुक्त रखने की आवश्यकता है, यदि निश्चयवाद को दृढ़ निश्चयवाद के आक्रमण से बचाना है। आकस्मिकता को भौतिक और सामाजिक प्रक्रिया के आचरण के रूप में देखना चाहिए, यह सिद्ध भी हो चुका है। इसका अभिप्राय दो बातों में है जो एक दूसरे को प्रभावित करती हैं। उदाहरण के लिए बर्ट्रेंड रसैल के बहुतायत से प्रयुक्त अनुभववाद से छुटकारा मिलना कठिन है जो कहता है कि संसार में सभी कौवों को देखना सम्भव नहीं है अतः यह मान लेना चाहिए कि सभी कौवे काले होते हैं। हमें अनुभववाद के इस सिद्धांत के विरुद्ध यह सिद्ध करना पड़ेगा कि कौवों की शारीरिक रचना में ऐसे तत्व होते हैं जिनसे उनका रंग काला हो जाता है। जब तक वह पक्षी उसी आधार पर पैदा होगा तब तक कौवों का रंग काला होगा। यहां कारक अनुभववाद से नहीं वरन् तार्किक विचार से सिद्ध होता है। आर्थिक निश्चयवाद की स्थापना तो अनुभववाद अथवा तर्क दोनों से सिद्ध नहीं होती।

इतिहास की भ्रामक व्याख्या के आधार पर मार्क्स ने वर्ग संघर्ष के सिद्धांत का प्रतिपादन किया है। बाद में उसे मार्क्सवाद का आधारभूत सिद्धांत मान लिया गया। उनके अनुसार सभ्य समाज का इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास है जो अन्ततः पूंजीवाद और सर्वहारों के संघर्ष का रूप ले लेता

है। सर्वहारा पूंजीवाद के पतन के बाद वर्गहीन समाज की स्थापना करेगा। यहां मार्क्सवाद की कमजोरी प्रकट होती है। वर्गहीन समाज स्थिर रहेगा। क्योंकि मार्क्सवाद के अनुसार वर्ग संघर्ष विकास की कुंजी है। वर्गहीन समाज में इतिहास का द्वन्द्वात्मक रूप समाप्त हो जायेगा और विकास भी स्थिर हो जायेगा और मानवता का अन्त हो जायेगा। मार्क्सवाद के कट्टर और कठ-मुल्ला समर्थक मार्क्सवाद को मानव का अन्तिम विवेक मानते हैं। इस प्रकार वह स्वतंत्रता का दर्शन न होकर मानव जाति के विनाश का दर्शन सिद्ध होगा। आर्थिक निश्चयवाद के सिद्धांत से ही इस प्रकार के बेहूदा निष्कर्ष निकलते हैं। व्यवहार में यह मार्क्सवाद की कल्पना के प्रतिकूल है। कम्यु-निज्म के आने पर राज्य का तिरोहरण नहीं होता है। राज्य विशेष रूप से तानाशाही राज्य सभी विरोधी शक्तियों के दमन के लिए दण्ड का काम करता है। कम्युनिज्म के अधीन राज्य का लोप न होना यह सिद्ध करता है कि सम्पूर्ण मानव जीवन केवल आर्थिक सम्बन्धों पर आश्रित नहीं है और कम्युनिज्म भी समस्त मानव जीवन को अपने में समेट नहीं पाता है। किसी भी दशा में इतिहास की आर्थिक व्याख्या भ्रामक सिद्ध होती है और राज-नीतिक व्यवहार और सामाजिक पुनर्निर्माण की जो कल्पना उसके आधार पर की जाती है उसका दार्शनिक आधार भी भ्रामक है और यह सिद्धान्त स्वतन्त्रता के संघर्ष का लक्ष्य पूरा नहीं कर सकता।

मार्क्सवाद की कल्पना के भ्रामक सिद्ध होने पर उसके आधार पर संग-ठित समाज वास्तव में स्थिर हो जाता है और तानाशाही स्थायी रूप ले लेती है। यहां हम मानवता की स्वतंत्रता का प्रश्न उठाना चाहते हैं। मुझे यह कहने में शर्म नहीं है कि मैं पुनर्जागरण से प्रेरणा लेता हूं। कार्ल मार्क्स भी मानववादी था। उसके अनुयायी यह भूल गये हैं कि उसने 'मानव' को मानव जाति का मूल माना है। मैं समझता हूं कि विचारों के आन्दोलन और भौतिक सामाजिक शक्तियों की प्रक्रिया के सम्बन्ध में अधिक कुछ नहीं कहा जा सकता। भौतिकवादी होने के कारण मैं इन दोनों धाराओं को मानव विकास के सम्बन्ध में एक में मिलाना चाहता हूं। इन दोनों को मिला-कर मानव विकास होता है। जहां तक हमारे दर्शन का सम्बन्ध है हम मानव के विकास का आरम्भ भौतिक जगत् से मानते हैं, यह भौतिकवादी दर्शन है। लेकिन यह मार्क्सवादी भौतिक निश्चयवाद के सिद्धान्त से भिन्न है क्योंकि इसमें मानसिक संसार की स्वायत्तता स्वीकार की गयी है जो स्वतः भौतिक प्रकृति से उद्भूत है। भौतिकवाद के आधार पर सामाजिक दर्शन का प्रतिपादन करते समय हम विचारों का महत्व गौण नहीं समझते।

मानव के विकास के पूर्व शारीरिक विकास के स्तर पर भावनाओं और बुद्धि का विकास हुआ था और सामाजिक तथा इतिहास के विकास-क्रम में उसकी निर्णायक भूमिका थी। मानव का व्यवहार और आचरण विचारों के स्वतंत्र आन्दोलन और सामाजिक विकास की गतिशीलता दोनों से निश्चित होता है। वे लगातार एक दूसरे को प्रभावित करते हैं और उनको इसी दृष्टि से एक आवयविक प्रक्रिया कहा जा सकता है।

नैतिकता और विवेक सम्बन्धी प्रश्न दूसरा आधारभूत प्रश्न है। बहस के दौरान आप में से एक साथी लक्ष्य के करीब पहुंचा है लेकिन उसके बाद वह उससे हट गया। किसी ने प्रश्न किया कि विवेक क्या है? वह कई प्रकार का होता है। उसकी स्वीकृत परिभाषा में कहा जा सकता है कि विवेक तर्क के आधार पर विकसित होता है। यह झूठी प्रशंसा नहीं है। शाब्दिक परि-भाषाओं में सामान्य रूप से यह त्रुटि होती है। इस परिभाषा से अन्य प्रश्न उठते हैं। तर्क क्या है? जब तक इस तर्क को एकात्मवादी भौतिकवाद से उद्भूत सिद्ध न कर सके तब तक मेरे लिए 'विवेक' का भी कोई अर्थ नहीं है। मैं शाब्दिक परिभाषा से उसके अर्थ को अधिक महत्व देता हूं। अल्बर्ट्स मैगनस का उदाहरण लेना चाहिए जो सभी युगों में एक महान विवेकवादी माना जाता है। लेकिन उसके विवेकवाद और हमारे दृष्टिकोण में बहुत अन्तर है। आधुनिक विवेकवाद अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दियों में अनिवार्य रूप से हेतु विद्या मानी जाती थी। तर्क को आध्यात्मिक श्रेणी में गिना जाता था और वह रहस्य के आवरण से ढंका हुआ था। यह रोबिस पियर की सनक नहीं थी जो उसने तर्क को देवत्व पीठ पर प्रतिष्ठित किया था और न वह कन्वेंशन के 'हिबरिष्ट' लोगों की दूषित भावना थी कि उन्होंने क्रान्ति की देवी के रूप में पेरिस की वेश्या की मूर्ति को प्रतिष्ठित किया था। जब तक तर्क को भौतिक प्रकृति में निहित सिद्ध न किया जा सके और उसके व्यवहार को बुद्धिगम्य न सिद्ध किया जा सके उसे मिथ्यावादी धर्म ही कहा जायेगा चाहे वह दार्शनिक विश्वास हो अथवा वैज्ञानिक विश्वास। इसलिए हम तर्क की भावना के भौतिक परिमाण ढूंढने का प्रयास कर रहे हैं।

शरीर शास्त्र में हमें प्रवृत्ति, सहज ज्ञान और अन्तःप्रेरणा आदि शब्द मिलते हैं। क्या उन सबकी परिभाषा करना असम्भव है? क्या उन्हें ऐसे ही मान लिया जाता है? भौतिकवाद किसी वाद को ऐसा नहीं मानता कि उसकी परिभाषा ही न की जा सके। वह सभी सामान्य बातों को भौतिक जगत् से उत्पन्न मानता है और उसके आधारभूत नियमों के अनुकूल उनके

आचरण स्वीकार करता है। शारीरिक शास्त्र में तर्क की विवेकपूर्ण व्याख्या न मिलने के कारण मैं और आगे जाता हूं। समस्त भौतिक विश्व की एक निश्चित प्रक्रिया है कि वह निरन्तर समानान्तरित होता रहता है इसलिए मैं तर्क को प्रकृति के निश्चयवाद से जोड़ता हूं। सभी शारीरिक प्रक्रियाएं जिनमें मानव की मानसिक कार्रवाइयां भी शामिल हैं वे भौतिक जगत् के आधार पर होती हैं और वह उसी में निहित है। इस प्रकार यह न आध्यात्मिक है और न रहस्यवादी श्रेणी की बातें हैं।

भौतिक विश्व नियमानुसार चलता है और कोई भी बात बिना कारण नहीं होती अतः कार्य-कारण सम्बन्ध विवेक है। अतः हम तर्क को भौतिक विश्व में मानते हैं। जब यह सिद्ध हो गया है कि शारीरिक प्रक्रियाएं भौतिक निश्चयवाद की निरन्तरता पर आधारित हैं तो प्रत्येक दृश्यमान चाहे वह सहज प्रवृत्ति हो, सहज ज्ञान हो अथवा अन्तःप्रेरणा हो, इन सभी की व्याख्या करना सम्भव हो जाता है। उनकी उत्पत्ति मानव के पूर्व स्थिति के यांत्रिक विकास में ढूंढी जा सकती है। विवेक के सूत्रों की नीचे तक खोज करने के प्रयास में हमारे सामने जीवन की उत्पत्ति की समस्या आती है। जड़ प्रकृति से जीवन कैसे उत्पन्न होता है। जब तक यह सिद्ध न कर लिया जाय तब तक भौतिक विश्व से तर्क को निश्चित नहीं किया जा सकता। अब यह घबड़ाने वाली समस्या नहीं रह गई है, चाहे हम इसको सुलझाने के लिए अति संशयात्मक दृष्टिकोण ही क्यों न अपनाएं। कुछ निश्चित रसायनिक प्रक्रियाओं से जीवन की उत्पत्ति को सैद्धान्तिक रूप से स्वीकार किया जा सकता है, भले ही अब तक प्रयोग द्वारा इसे प्रमाणित न किया जा सकता हो।

मनोविज्ञान और भौतिक विज्ञान में ऐसे आधारभूत तत्व हैं जिनमें परस्पर शृंखलाबद्ध सम्बन्ध हैं और उन्हें परिभाषित नहीं किया जा सकता है। शरीर शास्त्र, 'साइकोलोजी' और रसायन के क्षेत्र में भी ऐसे शब्द मिल जाते हैं। यदि एक बार सहज प्रवृत्ति, सहज ज्ञान और प्रवृत्ति के रहस्यवादी लगने वाले शब्दों के विवेक तत्व और उनके निश्चय स्वरूप को पहचान लिया जाय तो मनोविज्ञान और भौतिक विज्ञान की शृंखला को समझा जा सकता है। उस दशा में उनकी उच्चतम अभिव्यक्ति और मानव मस्तिष्क की महानतम सृजनता को भी समझा जा सकता है। विद्युत प्रवाहों से संवेदनशील तत्व के विकास की निरन्तर शृंखला है। उससे लेकर मानव की बौद्धिक कल्पनाओं तक की उच्च स्थितियों में परस्पर सम्बन्ध है। भावना, कल्पना और अमूर्त दार्शनिक विचार, गणित के उच्च सिद्धान्त, उच्च कोटि की कविता और महान कलाकारों की कृतियाँ सभी इसी प्रक्रिया से

संबंधित हैं। केवल भौतिक दर्शन, यदि आप उसे दूसरा नाम देना चाहते हैं तो उसे भौतिक यथार्थवाद कह सकते हैं, वैज्ञानिक विवेकवाद अथवा भौतिकवादी एकात्मवाद कह सकते हैं और समस्त विश्व में एक तत्व और उसके विविध रूपों में उसमें एक अखंडित सूत्र को देख सकते हैं। जब तक ऐसा नहीं किया जायेगा हम इतिहास की व्याख्या नहीं कर सकेंगे। यदि हम मानव की व्याख्या नहीं कर सकते तो हम यह सिद्ध नहीं कर सकते कि मानव स्वभाव से, प्राकृतिक ढंग से विवेकी प्राणी है और तब तक इतिहास की व्याख्या नहीं कर सकते। इतिहास तक विवेकसम्मत प्रक्रिया है क्योंकि उसका निर्माण मानव करता है। जब तक आपको यह न मालूम हो कि किस स्थिति में वह कैसा व्यवहार करेगा तब तक आप इतिहास का विज्ञान विकसित नहीं कर सकते।

कुछ प्रतिपादित सिद्धान्तों में थोड़ी-बहुत गड़बड़ी हो सकती है। लेकिन समस्त सिद्धान्तों से एकात्मवादी संसार की जो तस्वीर प्रस्तुत की गई है वह पूरी है : 'नियमशासित भौतिक जगत् में उत्पन्न होने के कारण मानव विवेकी होता है', आज मनोविज्ञान और आदिम मानव-सिद्धान्त से शुरू किया जाय, उन दोनों के साथ सम्बन्धित विज्ञान शरीर रचना और जीव-विज्ञान का अध्ययन किया जाना चाहिए। शरीर विज्ञान, शरीर रसायन और रसायन से मिल कर रसायन और भौतिक तत्वों की विभाजन रेखा समाप्त हो जाती है और उसके परिणामस्वरूप विश्व के एक तत्व में मानव के विकास के साथ आज के संसार के विविध स्वरूपों के विकास को समझ सकते हैं। प्रत्येक व्यक्ति में समान सहज स्वभाव, समान प्रवृतियां पायी जाती हैं, इनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि मानव की उत्पत्ति समान ढंग से हुई। इस आधार पर मानव मात्र में भ्रातृत्व की भावना एक कल्पना मात्र नहीं है। ऐसा समय था जब संसार को आवृत्त करने वाली एक तस्वीर नहीं बनायी जा सकती थी। हमें वैज्ञानिक ज्ञान के आधार का उपयोग करके ऐसा कुछ करना चाहिए जिसके लिए हम अपने को गौरवान्वित समझ सकें। इसकी सहायता से हमें यह घोषणा करनी चाहिए कि मानव समाज केवल एक सभ्य जंगल नहीं है और विकास के लिए उसमें एक दूसरे का गला काटने के लिए उद्यत होना जरूरी नहीं है। यदि मानव की समान आकांक्षाएं हैं तो उसका लक्ष्य भी एक है। मानव उत्तराधिकार के इस महान ज्ञान का प्रसार अधिक से अधिक संख्या में लोगों में फैलना चाहिए। ऐसा होने पर हम अपनी कल्पना के समाज के निकट पहुंचेंगे।

नैतिकता की समस्या के सम्बन्ध में मेरा दृष्टिकोण भी भौतिकवादी है। मेरा विश्वास है कि भौतिक नैतिकता केवल सम्भव ही नहीं है वरन् वह

सबसे उच्चकोटि की नैतिकता है क्योंकि इसके आधार पर मानव बिना आत्मविलोप के नैतिक हो सकता है और उसे इसके लिए काल्पनिक अति-मानव शक्ति के सामने समर्पण नहीं करना पड़ता है। जब तक नैतिक मूल्यों की उत्पत्ति मानव की पूर्व स्थिति की प्रक्रियाओं से न सिद्ध हो सके तो उसे ईश्वर अथवा ऐसी ही किसी सत्ता के अतिरिक्त सिद्ध करना सम्भव नहीं होगा। या तो हम में नैतिकता निहित है अथवा हम उसे किसी बाह्य सत्ता के आदेश के रूप में मानते हैं। आप इन दोनों बातों को एक साथ नहीं मान सकते। यदि आप यह बात अस्वीकार कर देंगे कि मानव अपने विवेक के आधार पर नैतिक होगा तो आपको नैतिकता को ही अस्वीकार करना पड़ेगा अथवा आपको पुजारियों और पंडितों से नैतिकता का पाठ लेना पड़ेगा। नैति-कता तो मानव के आचरण का ही एक गुण है। यदि मानव विवेकपूर्ण प्राणी है तो नैतिकता और विवेक में सम्बन्ध होना चाहिए। नैतिकता अन्तर-चेतना को प्रेरित करती है। लेकित अन्तर-चेतना क्या है ? यह ऐसी कल्पना है जो आधुनिक विवेकवादी नैतिक दर्शनों में भी रहस्य में छिपी है। मैं अन्तर-चेतना को सामाजिक उत्तरदायित्व की भावना मानता हूं। इस प्रकार सामाजिक उत्तरदायित्व की भावना व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के प्रतिकूल नहीं है। इसके विपरीत यह सिद्ध किया जा सकता है कि स्वतंत्रता की आकांक्षा से ही यह भावना उत्पन्न होती है। अस्तित्व के संघर्ष और मानव प्राणियों की आकांक्षाओं के आधार पर समाज का शिलान्यास होता है। जब तक इस सम्बन्ध को बिगाड़ा न जाय तब तक साधनों से साध्य को नष्ट नहीं करना चाहिए। स्वतंत्रता की आकांक्षा पर ही आधारित लक्ष्य को प्राप्त किया जाता है। ऐसी दशा में समाज में व्यक्ति की स्वतंत्रता के दमन का दण्ड नहीं बनना चाहिए। समाज का अस्तित्व और उसके निरन्तर बना रहना इस बात पर आश्रित है कि उसके व्यक्ति अपनी सामाजिक उत्तरदायित्व की भावना के प्रति एक-निष्ठ हों और समाज में अपने कर्त्तव्यों का पालन करते हों। विवेक सम्मत व्यवस्था में सामाजिक उत्तरदायित्व की भावना व्यक्ति की स्वतंत्रता के प्रतिकूल नहीं है। यदि मानव अपने में निहित विवेक के प्रति सचेत है तो सामाजिक उत्तरदायित्व की भावना दूसरे व्यक्तियों की आकांक्षाओं के प्रति भी उसकी भावना जागृत करेगी। इस प्रकार सभी नागरिकों की स्वतन्त्रता स्थापित हो जायेगी। मैंने जो बातें कही हैं उनको उदाहरणपूर्वक समझाना चाहूंगा।

यदि मैं यह मान कर चलूं कि मैं समाज का सदस्य हूं और मैं भी अन्य लोगों की आकांक्षाओं से प्रेरित होकर उनसे सहयोग करूं तो मैं अधिक

सफलता के साथ अपनी क्षमताओं को बढ़ाकर सामाजिक उत्तरदायित्व पूरा कर सकता हूं तो यह सोचना मेरे लिए स्वाभाविक प्रेरणा होगी। मैं यह नहीं चाहता कि कोई दूसरा व्यक्ति मेरी स्वतंत्रता में बाधक हो अतः मुझे समाज के दूसरे व्यक्तियों के इस अधिकार को स्वीकार करना चाहिए। स्वतंत्रता की आकांक्षा निर्णायक तत्व है। एक बार यदि आप समाज के दूसरे सदस्यों की स्वतन्त्रता का आदर करते हैं तो उससे यह बात भी निकलती है कि सभी लोग सामाजिक उत्तरदायित्व की भावना स्वयं अपनी इच्छा से अपनाते हैं। ऐसे समाज की कल्पना कीजिए जिसमें सभी व्यक्ति अपने इस विश्वास के अनुसार आचरण करें तो वह नैतिक समाज बन जायेगा। वह नैतिक इसलिए होगा क्योंकि वह विवेक के आधार पर चलेगा। चूंकि मैं चाहता हूं कि कोई व्यक्ति मुझे दुःख न पहुंचाए, अतः हमें दूसरे को दुःख नहीं पहुंचाना चाहिए। समाज में परस्पर एक दूसरे के लिए यही भावना होनी चाहिए। विवेक सम्पन्न समाज में अन्तर-चेतना से अपील करना कोई रहस्यवादी बात नहीं है और उसमें किसी आध्यात्मिक दबाव अथवा दैवी कोप के प्रति आत्मसमर्पण करना नहीं है।

यदि हम नैतिक भावना को मानव की विवेक की भावना से नहीं जोड़ते तो नैतिक मूल्यों की बात करना कठमुल्लापन हो जायेगा और किसी को उनके पालन के लिए हमें आदेश देना पड़ेगा। नैतिकता के सम्बन्ध में सापेक्षवादी दृष्टिकोण कठमुल्लेपन वाले दृष्टिकोण की प्रतिक्रिया है, वह अविवेकी और दबाव की नैतिकता हो और नैतिकता सापेक्ष रूप से अनैतिक हो जायेगी। जैसे ही आप नैतिकता के सम्बन्ध में सापेक्षतावादी दृष्टिकोण अपनाते हैं उसके साथ ही आपका व्यवहार पतनशील ईसाई (जेसुएटवादी) पादरियों के समान हो जाता है। प्रत्येक बात की परीक्षा उसके नतीजे से नापी जायेगी और यदि किसी अनैतिक आचरण से आपको अच्छा नतीजा मिलता है—व्यक्तिगत रूप से आपका भला होता है—तो आप उसे नैतिक मान लेंगे। इसलिए यदि हम किसी प्रकार की नैतिकता चाहते हैं तो हमें उसके लिए ऐसे मानव मूल्यों को आधार बनाना पड़ेगा जो शाश्वत रूप से स्थायी मानव मूल्य हों—कम से कम उस अर्थ में जिसमें मानवता को शाश्वत माना जाता है। यहां शाश्वत शब्द का प्रयोग भौतिक अर्थ में नहीं किया गया है। कहने का तात्पर्य इतना ही है कि नैतिक भावना और नैतिक मूल्य दोनों की उत्पत्ति मानव के विकास से सम्बन्धित है। इनकी उत्पत्ति अतिमानवीय अथवा दैवी और आध्यात्मिक आदेश से नहीं होती है। जैसे सभी मानवीय आकांक्षाओं की उत्पत्ति मानव के विकास से पहले हुए शारीरिक विकास से होती है उसी भांति नैतिकता भी उसी स्रोत से

उत्पन्न होती है। मानव के विकास के पूर्व संसार में वर्ग संघर्ष नहीं था। मानव के विकास से पूर्व के शारीरिक विकास में नैतिक आचरण आरम्भ होता है अतः मानव जीवन के सभी नैतिक मूल्य विश्वव्यापी हैं। इतिहास का मानववादी दृष्टिकोण, मानववादी दर्शन हमें विश्वव्यापी मानव मूल्यों की कल्पना करने का आधार प्रदान करता है। इसलिए मैं नैतिकता को भौतिक जगत् के विवेकसम्मत योजना के एक भाग के रूप में स्वीकार करता हूँ। विवेक सम्मत नैतिकता भौतिकवादी दर्शन के अंश के रूप में सम्भव है।

इन सिद्धान्तों का प्रथम भाग वस्तुओं के मूल तक जाता है। इनके आधार पर यह सम्भव है कि इतिहास का विवेक सम्मत चित्र प्रस्तुत किया जा सके। इसके बाद भविष्य की घटनाओं की सम्भावना का अनुमान लगाया जा सकता है। सिद्धान्तों के बाद के भाग में इसकी रूपरेखा प्रस्तुत की गयी है। जैसा मैं कह चुका हूँ कि भविष्य की यह तस्वीर अनुमानित है और कल्पना के रूप में है। रेडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी ने अपने सामने यह कार्य रखा है कि वह रेडिकल डेमोक्रेटिक राज्य की स्थापना करे। हम उसके सम्बन्ध में मोटा अनुमान ही लगा सकते हैं जिसमें गलतियों और अनिश्चय की गुंजाइश छोड़ी गयी है। मानव के कार्यकलाप एक आदर्श से अनुप्रेरित होने चाहिए। अन्यथा किसी कार्य के लिए कोई उत्साह नहीं रहेगा। इसलिए हम कहते हैं कि हम रेडिकल डेमोक्रेटिक (उग्र लोकतांत्रिक) समाज की स्थापना करना चाहते हैं। ऐसा समाज स्थापित हो जाने के बाद पार्टी की क्या आवश्यकता रह जायेगी? हम अभी निश्चित रूप से नहीं कह सकते कि उसके बाद क्या होगा। हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि जब हम ऐसा कर सकेंगे उसके बाद हमें कुछ करना बाकी नहीं रहेगा।

जीवन की असमानताओं को समाप्त करने के लिए समाज के पुनर्निर्माण की आवश्यकता पड़ेगी। लेकिन हम हठपूर्वक यह नहीं कहते कि निजी स्वामित्व को समाप्त कर दिया जायेगा और उत्पादन के साधनों का राष्ट्रीयकरण कर दिया जायेगा। समतावादी सामाजिक व्यवस्था की स्थापना के लिए नियोजित अर्थ-व्यवस्था को अपनाना पड़ेगा और मानव की क्षमताओं के विकास पर लगे सभी प्रतिबंधों को हटा दिया जायेगा। इस सिद्धान्त के सम्बन्ध में कोई भ्रम नहीं रह गया है। रूस के अनुभव से हम कुछ सीख सकते हैं। रूस के प्रति हमारा आलोचनात्मक रवैया वस्तुगत आधार पर है। व्यक्तिगत रूप से मैं यहां तक कह सकता हूं कि रूस में जो कुछ हुआ उसके अतिरिक्त वहां और कुछ नहीं हो सकता था। लेकिन तथ्य यह है कि उन लोगों ने जो कुछ सम्भव था वह किया लेकिन वह नहीं किया

जिसका औचित्य था और जिसकी कल्पना अंधविश्वासों के आधार पर की गयी थी। इस अनुभव के बाद यह कहना कठमुल्लापन होगा कि भारतीय समाज के पुनर्निर्माण को निश्चित योजना के अनुसार किया जा सकेगा और उसकी भावी तस्वीर को निश्चित रूप से रखा जा सकेगा। समाज विज्ञान के समीकरण की विविधता अनिश्चित और असंख्य हो सकती है। उन सभी का हिसाब लगाना किसी एक समय में निश्चित नहीं है। इसीलिए निश्चित राजनीतिक और आर्थिक कार्यक्रम को अपनाने के बाद क्रान्ति के बाद शक्तियों के सम्बन्धों का सही अनुमान नहीं लगाया जा सकता है। इसका भी सही अनुमान लगाना मुश्किल है कि क्रान्ति के बाद समाज की रचना किस प्रकार की होगी। इस बीच में बहुत से बिना हिसाब वाले तत्व और अनेक प्रकार की शक्तियां अपना प्रभाव छोड़ेंगी और उस दशा में जनता की क्या आकांक्षाएं होंगी यह अभी से सोचना सम्भव नहीं है। हम अभी से क्या कह सकते हैं कि उस समय एक पार्टी होगी अथवा दस पार्टियां होंगी? हम इतना ही कह सकते हैं कि उस समय हम नहीं होंगे। रेडिकल डेमोक्रैटिक सामाजिक व्यवस्था जिसकी हमने अपने सिद्धान्त के बाद के हिस्से में कल्पना की है उसके बन जाने के बाद हमारी पार्टी का उससे कोई सम्बन्ध नहीं रहेगा। वह यांत्रिक रूप से अपने को समाप्त नहीं कर लेगी और न रेडिकल डेमोक्रैटिक राज्य अपने आप समाप्त हो जायेगा। पार्टी जनता में समाहित हो जायेगी और राज्य समाज का रूप ग्रहण कर लेगा। इसके आगे की कल्पना करने का हम दम्भ नहीं भरते हैं। क्योंकि हम जादूगरी नहीं कर सकते। फिर हम उसका अनुमान क्यों लगायें?

ऐसी राजनीतिक पार्टी के सम्बन्ध में सन्देह व्यक्त किया गया है जिसमें लोग सत्ता से अलग रहें। सत्ता के लिए लालायित होना ही राजनीतिक व्यवहार की प्रेरक शक्ति नहीं है। रेडिकल डेमोक्रैटिक राज्य में सत्ता का विस्तृत विकेन्द्रीकरण होगा और सत्ता वास्तव में जनता के हाथों में होगी। उस दशा में जनता के नाम पर अथवा वर्ग के नाम पर अधिकार करने का अवसर किसी पार्टी को नहीं मिलेगा। जो राजनीतिक पार्टी ऐसी राजनीतिक व्यवस्था बनाना चाहती है उसमें सत्ता से अलग रह कर काम करने वाले लोग ही होंगे। सत्ता से लालायित न होने वाले लोगों की कल्पना करने में कठिनाई क्यों है? मार्क्सवादी व्यवहार में वर्गच्युत व्यक्तियों की बात होती है। आप पूंजीवादी वर्ग के हो सकते हैं। आप उस वर्ग से अलग होकर दूसरे वर्ग—सर्वहारा वर्ग में शामिल हो जाते हैं, लेकिन उस दशा में भी आप वर्गच्युत नहीं होते। आप नये वर्ग से सम्बद्ध हो जाते हैं। मार्क्स पुरातन पंथी

नहीं था। उसने इस विचार की विस्तृत व्याख्या नहीं की। सत्ता के प्रति बिना लालायित व्यक्तियों को रखा जा सके। उसने ऐसे शासकों को दार्शनिक राजा का नाम दिया था। मार्क्सवादी योजना में सर्वहारा की तानाशाही और प्लेटो की कल्पना में समानता देखी जा सकती है। कार्ल मार्क्स के अनुसार कम्युनिस्ट पार्टी में सर्वहारा के दार्शनिक होने चाहिए। उन क्रान्तिकारियों को सर्वहारा वर्ग का नेतृत्व करना चाहिए यह केवल शब्दाडम्बर नहीं है। उनका उद्देश्य एक आदर्श समाज की स्थापना करना था। उस काल्पनिक राज्य के तिरोहरण की कल्पना का विशेष महत्व है जिसका सही अभिप्राय उसके समर्थक ठीक से समझ नहीं पाये। इसका तात्पर्य यह है कि सर्वहारा का राज्य निहित स्वार्थी तत्वों का राज्य नहीं है, वह अच्छे साध्य को पाने का साधन मात्र है, जिसका उपयोग सत्ता के प्रति लालायित न होने वाले व्यक्तियों के हाथ में होना चाहिए जो सत्ता से चिपके नहीं रहना चाहते हैं। जैसे ही कम्युनिस्ट समाज अपने अन्तिम लक्ष्य पर पहुंच जायेगा, उसको लाने वाले यंत्र को फेंक दिया जायेगा। क्रान्ति की सफलता के लिए वे लोग ही सर्वोपरि बलिदान दे सकते हैं जो सत्ता के प्रति लालायित नहीं हैं। वे ऐसे दार्शनिक हैं जो स्वतन्त्रता की आकांक्षा की पूर्ति के लिए अपना कर्त्तव्य करते हैं। इसलिए मार्क्स ने लिखा कि अब समय आ गया है जबकि दर्शन को संसार की पुनः रचना करनी चाहिए। मार्क्स ने दर्शन का जो कर्त्तव्य निर्धारित किया है उसको दार्शनिक लोग ही पूरा कर सकते हैं।

दुर्भाग्य से लोग वर्ग-संघर्ष के उनके विचार से अधिक प्रभावित हो गये। मार्क्स ने सत्ता के सम्बन्ध में अपने विचार के लिए गलत शब्दों का प्रयोग किया। संक्रमण काल में सत्ता से लालायित न होने वाले लोगों के हाथ में सत्ता देने का उसका विचार था। यदि किसी एक वर्ग के हाथ में सत्ता आये और उसका उद्देश्य दूसरे वर्गों का दमन करना हो, तो वह कभी भी सत्ता को छोड़ने को तैयार नहीं होगा। अतः सर्वहारा की तानाशाही मार्क्स के विचार की सही अभिव्यक्ति नहीं कही जा सकती। उसके प्रयोग से तो उसका लक्ष्य ही पराजित हो जाता है। वास्तव में यही हुआ है। कम्युनिस्ट पार्टी दार्शनिकों का समूह नहीं थी और वह नये संसार की रचना के दर्शन का अस्त्र बन रही थी। जिसका उद्देश्य ऐसे स्वतंत्र नैतिक व्यक्तियों का सहयोगी राज्य बनाना था जिसमें लालची आर्थिक रूप से स्वार्थी लोगों को सत्ता से अलग किया जा सके। इसके विपरीत कम्युनिस्ट पार्टी ऐसे लोगों का संगठन बन गया जो सर्वहारा के नाम पर उसकी तानाशाही की स्थापना करने के लिए सत्ता पर अधिकार करना चाहता था। कम्युनिस्ट लोगों को

जनता की स्वतन्त्रता की आकांक्षा करने वाले लोगों का संगठन बनना चाहिए था, लेकिन वैसा नहीं हुआ। कम्युनिस्ट पार्टी सत्ता पर अधिकार जमाने का माध्मम बनी और उसके सदस्य स्वतंत्र व्यक्तियों के उदात्त स्वरूप को विकसित नहीं कर सके। तानाशाही सत्ता पाने के बाद पार्टी में आन्तरिक तानाशाही के सामने लोगों ने आत्मसमर्पण कर दिया। अनुशासन ने जादुई छड़ी का काम किया। पार्टी के सदस्यों के व्यक्तित्व की बलि पार्टी के सामूहिक नेतृत्व की वेदी पर चढ़ा दी गयी और पार्टी का रूप वैसा ही हो गया जैसा समाज बनाने के लिए वह वचनबद्ध हो गयी।

यदि रूसी कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्यों को अपनी क्षमताओं को विकसित करने की स्वतन्त्रता होती तो उसमें आध्यात्मिक रूप से स्वतन्त्र पुरुषों और महिलाओं का स्थान होता और उस दशा में वे तानाशाही शक्ति के सामने आत्मसमर्पण करने को बाध्य नहीं होते। यदि स्टालिन के समान दूसरे व्यक्ति होते तो वह तानाशाह नहीं बन पाता। वह स्वयं एक भिन्न व्यक्ति होता और उसके साथ वाले लोग भी समान रूप से भिन्न होते। पार्टी में यदि अधिक विकसिक लोग होते तो सत्ता के विकेन्द्रीकरण की सम्भावना भी अधिक होती। प्रौद्योगिकी विशेषज्ञों का एक छोटा वर्ग विकसित करता है। आधुनिक प्रौद्योगिक समाज के ढांचे में ऐसा क्यों नहीं हो सकता कि हजारों-हजारों विशेषज्ञ उत्पन्न किये जायं। यदि कोई उद्योग विकेन्द्रित किया जा सकता है तो राज्य का स्वरूप भिन्न होगा। लेकिन रूसियों में बहुत से योग्य व्यक्ति थे और वहां उद्योग और सत्ता दोनों का केन्द्रीकरण हो गया।

हम जिस भावी समाज की कल्पना कर रहे हैं उसकी स्थापना ऐसे अनासक्त व्यक्तियों पर आश्रित होगी, जो मानव की परम्पराओं के उत्तराधिकारी होंगे। मैं इसे सम्भव मानता हूं। इसकी निर्णायक बात शिक्षा है। ऐसी उच्च शिक्षा को सभी व्यक्तियों के लिए क्रान्ति से पहले सम्भव नहीं बनाया जा सकता। रेडिकल डेमोक्रैटिक राज्य की स्थापना तक ऐसा सम्भव नहीं होगा। लेकिन भारत जैसे विशाल देश में स्वतंत्रता की आकांक्षा से अनुप्रेरित लोग स्वयं को शिक्षित बना कर बड़ी संख्या में लोगों को शिक्षित बना सकते हैं। और एक बार यह आरम्भिक स्थिति बन जाने पर शिक्षा के प्रसार को तेजी से बढ़ाया जा सकता है। इस प्रक्रिया में क्रान्ति हो जायेगी। यदि रेडिकल डेमोक्रैटिक पार्टी के सिद्धान्तों में विश्वास रखने वाले 20 हजार व्यक्ति हों तो हम क्रान्ति के अधिक निकट पहुंच जायेंगे, जिसकी आज कल्पना भी नहीं की जा सकती।

रेडिकल डेमोक्रटिक पार्टी के बम्बई में आयोजित तृतीय अखिल भारतीय अधिवेशन में प्राथमिक बहस के दौरान 25 दिसम्बर, 1947 को दिया गया एम.एन. राय का भाषण।

पांच

इतिहास से रेडिकलवाद का समर्थन

ठीक 6 वर्ष पूर्व रेडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी का उद्‌घाटन अधिवेशन इसी हॉल में हुआ था। वह समय आधुनिक संसार के इतिहास में अन्धकार का समय था। समस्त यूरोप को पददलित करने के बाद अन्तर्राष्ट्रीय फासिज्म ने अपने निष्ठुर पंजे एशिया की ओर बढ़ाये थे। उस स्थिति की गम्भीरता को हमारे देश के राजनीतिक नेताओं ने ठीक से अनुभव नहीं किया था। साम्राज्यवाद के भूत के भय के कारण उन्होंने फासिज्म के खतरे को नजर-अन्दाज कर दिया था। यह सही है कि तब तक साम्राज्य मर नहीं गया था, लेकिन वह मरणासन्न स्थिति में पहुंच गया था और उसके बचने की सम्भावना नहीं थी। फासिज्म के विरुद्ध युद्ध में साम्राज्यवाद से सहयोग के न देने के आधार पर मदद देने से इन्कार करना, स्वतंत्रता के विरुद्ध सही खतरे को समझे बिना साम्राज्यवाद की छाया से लड़ने के समान था। इस बात का अनुमान लगाना कठिन नहीं होना चाहिए कि समस्त संसार के गुलाम होने के बाद भारत अथवा किसी अन्य देश को स्वतंत्र करने की कल्पना नहीं की जा सकती थी। फासिज्म के खतरे के सम्बन्ध में जैसा लापरवाही और खतरे को न देखने का रवैया अपनाया गया था उसमें भारत शत्रु राष्ट्रों के किसी भी साम्राज्यवादी हमले का शिकार हो सकता था, यदि कहीं वैसा होता और उस दशा में देश में देसी फासिज्म के उदय का खतरा कहीं ज्यादा बढ़ जाता।

दर्शन और सामाजिक दृष्टिकोण के मतभेदों को भुला कर रेडिकल लोग तब तक कांग्रेस के भीतर थे और उन्हें यह आशा थी कि संगठन में लोकतांत्रिक और प्रगतिशील शक्तियों का प्रभाव बढ़ेगा। जब युद्ध शुरू हुआ तो उन्होंने कांग्रेस नेतृत्व से उस संकट के सम्बन्ध में दूरगामी दृष्टिकोण अपनाने का आग्रह किया। लेकिन कांग्रेस के नेतृत्व ने यह स्वीकार नहीं किया कि युद्ध के बाद ब्रिटिश साम्राज्यवाद जीवित नहीं बचेगा, इस बात पर विवाद नहीं था कि वह कैसे समाप्त होगा। इस बात को स्वीकार न करके कांग्रेस नेतृत्व भारत की शक्ति को धुरी राष्ट्रों की पराजय के लिए उपलब्ध कराने के लिए तैयार नहीं हुआ। यदि युद्ध का नतीजा भिन्न हुआ होता और ब्रिटिश साम्राज्यवाद नष्ट हो गया होता तो विजयी फासिज्म से आतंकित संसार में भारत स्वतंत्र नहीं हो सकता था। उस संकट के समय रेडिकल लोगों ने यथार्थवादी और व्यवहारिक नीति अपनाने पर जोर दिया और सत्ता की राजनीति में लगे लोगों से बड़ी समस्याओं और बड़े कारणों को समझने और उनके अनुसार आचरण करने पर जोर दिया था। यदि देश के आठ राज्यों में कांग्रेस मंत्रिमण्डलों के अधीन युद्ध प्रयासों में पूरा सहयोग दिया गया होता और अगस्त समझौते के अनुसार केन्द्रिय सरकार का पुनर्गठन किया गया होता तो सत्ता के संघर्ष को अन्तिम परिणति तक पहुंचाया जा सकता था, यदि उसकी आवश्यकता पड़ती। उस दशा में साम्राज्यवाद भारतीय जनता की शक्ति का प्रतिरोध नहीं कर सकता था और भारतीय जनता के हाथ में शक्ति युद्ध के दौरान ही आ जाती। यदि भारत के राष्ट्रवादी नेताओं ने राजनीतिक रणनीति की योग्यता का प्रदर्शन किया होता, चाहे बड़े विशाल दृष्टिकोण और बड़ी समस्याओं की चिन्ता न भी होती, तो वे भारत के स्वाधीनता संघ को अन्तर्राष्ट्रीय फासिज्म विरोधी युद्ध के साथ मिलाकर चल सकते थे। उस दशा में छह वर्ष पूर्व कांग्रेस सत्ता के स्थानों पर पहुंच जाती, जहां वह आज नहीं है। यदि फासिज्म के खतरे के प्रति लापरवाही न की जाती तो भी वे सत्ता पाने का राजनीतिक जुआ खेल सकते थे। यदि उन्होंने भिन्न प्रकार से राजनीतिक आचरण करने की क्षमता प्रदर्शित की होती तो इस समय भारत स्वतंत्रता के द्वार के भीतर पहुंच चुका होता और भारत अपने आप स्वतंत्र हो जाता। उस दशा में साम्राज्यवाद अब तक समाप्त हो गया होता और देश में देसी फासिज्म का खतरा न रहता तो आज स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व एक धोखा-सा उत्पन्न कर रहा है।

जब कांग्रेस नेताओं ने वह अवसर खो दिया और भारतीय जनता के भविष्य के साथ खिलवाड़ करना उचित समझा उस समय रेडिकल लोगों के सामने उत्पन्न खतरे से देशवासियों को सचेत करने का कोई दूसरा विकल्प नहीं रह गया था। उस समय भारत के भविष्य के अंधकारमय होने के साथ ही आधुनिक संसार और सभ्यता का भविष्य खतरे में था। रेडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी का उस समय जन्म हुआ था, जब इतिहास का महान संकट सामने था। पार्टी ने उस समय यह घोषणा की कि भारत के स्वाधीनता संघर्ष को अन्तर्राष्ट्रीय फासिज्म विरोधी संघर्ष से मिलाकर चलाना चाहिए। पार्टी ने जनता से बिना किसी प्रकार का संकोच दिखाये धुरी राष्ट्रों के विरुद्ध युद्ध में सहयोग देने की अपील की। इस अपील की पृष्ठभूमि में यह विश्वास था कि फासिज्म की पराजय के बाद साम्राज्यवाद भी जीवित नहीं

बचेगा। इसीलिए हमारी ओर से यह तर्क दिया जाता था कि संसार की स्वतन्त्रता की रक्षा में सहयोग देकर भारत अपनी स्वतंत्रता प्राप्त कर लेगा।

रेडिकल लोगों ने जो तर्कसंगत आवाज उठायी थी उसका बहरे कानों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। उस समय देश में मिश्रित भावनाओं का जोर था, आधारहीन आशाओं और मिथ्या अनुमानों का जोर था। आत्मविश्वास की कमी और ब्रिटिश साम्राज्यवाद के भय ने हजारों सिर वाले दैत्य का रूप ले लिया था और देशभक्ति ने साम्राज्यवाद विरोध की भावना अपना कर सन्तोष कर लिया था। युद्ध के आरम्भ में अन्तर्राष्ट्रीय शक्तियों की विवेचना करके हम इस निष्कर्ष पर पहुंचे थे कि धुरी राष्ट्रों से युद्ध करना ब्रिटिश साम्राज्यवाद के हित में नहीं था और धुरी राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिक्रिया का नेतृत्व कर रहे थे अतः उसकी पराजय से अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिक्रिया की पराजय होगी और ब्रिटिश साम्राज्य भी पराजित हो जायेगा। इसी आधार पर हम इस नतीजे पर पहुंचे कि धुरी राष्ट्रों के विरुद्ध युद्ध करना स्वतः ब्रिटिश साम्राज्यवाद के लिए आत्मघाती होगा। एक अन्य बात ने भी हमारे दृष्टिकोण को प्रभावित किया, वह यह थी कि इस युद्ध में संलग्न सभी शक्तियां, अमरीका को छोड़कर, आर्थिक दृष्टि से नष्ट हो जायेंगी। विजयी और परास्त शक्तियां समान रूप से दिवालिया हो जायेंगी। ऐसी हालत में विजयी ब्रिटेन के लिए यह सम्भव नहीं होगा कि वह साम्राज्यवादी शक्ति बना रहे।

अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति की हमारी समीक्षा से भावी संसार की एक तस्वीर सामने आती है उसमें भारत की स्थिति का अनुमान है। हमने जिन बातों के आधार पर, गणित के आधार पर और तर्क के आधार पर भारत की स्वतंत्रता की जो भविष्यवाणी की उसे राष्ट्रवादियों ने हमारी सद् इच्छा बता कर उसे अस्वीकार कर दिया। हमारे आलोचकों ने हमारे तर्कों को खंडित नहीं किया, लेकिन वे यह कहते रहे कि हम जिन बातों की सम्भावना बताते हैं, वे वैसे नहीं होंगी। ब्रिटिश साम्राज्यवाद अपनी माईकावेली कूटनीति से ऐसा कुछ करेगा जिससे उसकी जड़ें भारत में गहरी बनी रहेंगी। उनका विश्वास था कि धुरी राष्टों की विजय से भारत और संसार के अन्य देश ब्रिटिश साम्राज्यवाद की गुलामी से मुक्त हो सकेंगे। इस प्रकार के विचारों से यह प्रकट होता है कि वे लोग धुरी राष्ट्रों की विजय चाहते थे। वह एक कल्पना थी और उसका आधार यह मानना था कि जर्मनी की सैनिक शक्ति अपराजेय थी। इसलिए भविष्य के सम्बन्ध में हमारे तर्कों को अस्वीकार करके उन्हें हमारी कल्पना कहा गया और हमारे आलोचकों ने मनोवैज्ञानिक दृष्टि

से पलायनवादी व्यवहार किया। हमारे आलोचक हमारे तर्कों का उत्तर देने में असमर्थ थे, अतः उनकी ओर से हमारे विरुद्ध दूषित तरीकों को अपनाया गया। हमारा मजाक उड़ाया गया और हमारी निन्दा की गयी और हमारे साथियों पर हमले किये गये। देश के समस्त राष्ट्रवादी समाचार-पत्रों ने हमारे विरुद्ध 'धर्मयुद्ध' छेड़ दिया। हमारे पास ऐसे साधनों की कमी थी जिन के द्वारा लोगों को हम अपनी बात सुना सकते, समाचार-पत्रों के बहिष्कार के साथ ही हमारी सभाओं को गुंडागर्दी के द्वारा भंग किया गया।

लेकिन इतिहास ने हमारा साथ दिया है। उसने अनेक बार हमें सही साबित किया है। जब अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति की हमारी समीक्षा का मजाक उड़ाया जा रहा था उन दिनों में युद्ध काल और उसके बाद की घटनाएं वैसे ही घटीं जैसा हमने अनुमान लगाया था। भारत के सम्बन्ध में भी, जिसकी हमें चिन्ता थी, हमारी भविष्यवाणी के अनुरूप घटनाएं घटी हैं। जैसे ही युद्ध समाप्त हुआ, भारत ने अपने आप को स्वाधीनता के राष्ट्रीय लक्ष्य के समीप पाया। यदि युद्ध में ब्रिटिश साम्राज्यवाद इतना कमजोर न हो गया होता, तो उसे सत्ता छोड़ने के लिए मजबूर न होना पड़ता, जैसा आज भारत में हो रहा है। कांग्रेस नेताओं ने धुरी राष्ट्रों के विरुद्ध युद्ध में यह कह कर सहयोग देने से इन्कार किया था कि उस सहयोग से ब्रिटेन विजयी होकर भारत को अपने साम्राज्यवाद की जंजीरों से और अधिक जकड़ लेगा। आज वे यह घोषणा करते की विजयी ब्रिटिश साम्राज्यवाद अब भारत की परिस्थितियों में निर्णायक नहीं रहा है। ब्रिटिश साम्राज्यवाद कांग्रेस के दबाव अथवा हृदय परिवर्तन के कारण भारत छोड़ने को तैयार नहीं हो गया है। आज उसमें ऐसी शक्ति, न पूंजी की और न सेना की, नहीं रही है कि वह भारत को अपने अधीन रख सके। जब वे इस देश में अपना शासन चलाने में असमर्थ हो गये हैं तो यहां से चले जाने के अतिरिक्त उनके सामने कोई दूसरा रास्ता नहीं रह गया है। ब्रिटिश साम्राज्यवाद की जड़ें कमजोर होने पर युद्ध ने उनको नष्ट कर कर दिया। राष्ट्रवादी भारत स्वाधीनता के द्वार पर पहुंच गया है, इसके लिए युद्ध के प्रति शुक्रगुजार होना चाहिए जिसे राष्ट्रवादी ब्रिटिश साम्राज्य का षड्यंत्र मान कर उसमें सहयोग देने से इन्कार करते थे। क्या रेडिकल लोग सही नहीं थे, जब उन्होंने युद्ध के आरम्भ में ही यह कहा था कि यह युद्ध क्रान्तिकारी और मुक्तिदायक है। क्या जो लोग हमारे दृष्टिकोण की निन्दा करते थे उन्हें शर्म से अपनी गर्दन झुका नहीं लेनी चाहिए ?

पिछले 61 वर्षों में जब रेडिकल डेमोक्रैटिक पार्टी की स्थापना हुई उस समय से बहुत सी घटनाएं हो चुकी हैं। उनका इतिहास में उल्लेख है। उनका

यहां पुनः उल्लेख करना आवश्यक नहीं है। युद्ध की परिणति करीब-करीब वैसी हुई है जैसी हमने उसके सम्बन्ध में भविष्यवाणी की थी और राष्ट्रवादी लोगों का व्यवहार भी उसी प्रकार का हुआ है जिसकी हमें आशंका थी। उनसे भारत में फासिज्म का उदय हो रहा है। अतः हम लोग भारत के स्वाधीनता के द्वार पर पहुंचने की घटना का स्वागत करते हैं, लेकिन रेडिकल डेमोक्रैटिक पार्टी के इस अधिवेशन में इस बात को देखा गया कि भारत का भविष्य अंधकारपूर्ण है और उसके सामने फासिज्म का खतरा है। इसके साथ ही दूसरी तस्वीर भी निराशाजनक है। भारत का स्वाधीनता की देहरी पर पहुंचने के समय भारत में साम्प्रदायिक आधार पर गृहयुद्ध का खतरा उत्पन्न हो गया है। इसके विकल्प यह हो सकते हैं। एक, चारों ओर अराजकता फैल जाय और उसके परिणामस्वरूप फासिज्म सत्ता में आ जाय। यह निराशाजनक तस्वीर है लेकिन असम्भव नहीं है। रेडिकल डेमोक्रैटिक पार्टी ने स्थापना के समय से इस खतरे की चेतावनी दी थी और स्वतन्त्रता के हिमायतियों का इस खतरे का सामना करने के लिए आह्वान किया था। इसके लिए तत्काल संघर्ष करने की आवश्यकता है। पिछले 6 वर्षों में रेडिकल डेमोक्रैटिक पार्टी ने इसके लिए भूमि तैयार की है। अब समय आ गया है जब प्रगति और लोकतांत्रिक स्वतन्त्रता के सभी प्रेमियों को इसके लिए आगे आना चाहिए।

रेडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी के उद्घाटन अधिवेशन के घोषणापत्र में हमने कहा था, 'भारत का भविष्य संसार के भविष्य से जुड़ा हुआ है। भारत की स्वाधीनता का मार्ग फासिज्म के विरुद्ध युद्ध में विजय क्षेत्र से होकर गुजरेगा। जिस समय फासिस्ट बर्बर सैनिक भारत के दोनों ओर से आगे बढ़ रहे हैं, हमारे बीच में भी फासिज्म पैदा हो रहा है। लोकतान्त्रिक और प्रगतिशील शक्तियों को एक साथ दो मोर्चों पर लड़ना है। घरेलू मोर्चे पर संघर्ष शीघ्रता से शुरू किया जाना चाहिए। राजनीतिक स्वतंत्रता और सामाजिक मुक्ति के लिए भारत की जनता को इस मोर्चे पर लड़ना चाहिए।'

दो वर्ष बाद पार्टी के लखनऊ में आयोजित प्रथम अधिवेशन में हमने यह घोषणा की थी कि युद्ध क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय फासिज्म की पराजय होना निश्चित है और उस समय हमने देश की प्रगतिशील और लोकतान्त्रिक शक्तियों से घरेलू मोर्चे पर फासिज्म के विरुद्ध संघर्ष करने की अपील की थी। 1944 में कलकत्ता में पार्टी के दूसरे अधिवेशन में हमने फासिज्म के अग्नि प्रहारों का सामना किया था और पतनशील साम्राज्यवादी राज्य की ओर से उनकी अनदेखी ही नहीं की गयी वरन् उन्हें संरक्षण भी प्रदान किया गया। उस कष्टकारक अनुभव ने यह दिखा दिया कि रेडिकल डेमोक्रैटिक

पार्टी को फासिज्म के विरुद्ध लोकतांत्रिक और प्रगतिशील शक्तियों का नेतृत्व करना है। इस अधिवेशन में भी उसी बात को दोहराया जा रहा है। इतिहास का निर्माण भारत के राष्ट्रवादियों ने नहीं वरन् संसार की अन्य शक्तियों ने किया है और उसके परिणामस्वरूप भारत स्वाधीनता के निकट पहुँच गया है। अब प्रश्न यह है कि क्या इस अवसर पर प्रगतिशील लोकतांत्रिक शक्तियां अपना प्रभाव डाल सकेंगी? अथवा साम्राज्यवाद के समाप्त होने पर फासिज्म की विजय होगी? इस समय यही प्रश्न हमारे सामने हैं।

इस बात को महसूस नहीं किया जा रहा है कि भारत में सार्वजनिक जीवन किस प्रकार फासिज्म की पकड़ में आता जा रहा है। किसी भी स्वतन्त्रता प्रेमी को उस समय संशय नहीं रहेगा जब तथ्यों की ओर उसका ध्यान आकृष्ट किया जायेगा। फासिज्म का व्यवहार सभी देशों में एक समान हो, यह जरूरी नहीं है। और न उसके लिए यह जरूरी है कि दानवी शक्ति का नंगे रूप में प्रयोग करे। वह स्वतन्त्रता का हनन और सार्वजनिक जीवन में फौजी अनुशासन लाता है, यह काम शक्ति के द्वारा और विवेकहीनता के प्रभाव से किया जा सकता है। अब आप अपने चारों ओर देखिए कि भारत में तथाकथित लोकप्रिय मंत्रिमण्डलों की स्थापना के और केन्द्र में अन्तरिम राष्ट्रीय सरकार की स्थापना के बाद क्या कुछ हो रहा है।

भावनात्मक रूप से अनुशासित और एकाधिकारी स्वामित्व के अधीन चलने वाले समाचार-पत्रों पर और अधिक पाबन्दियां लगायी गयी हैं, जिन्हें रजामन्दी से स्वीकार कर लिया गया है। राष्ट्रीय असहनशीलता के आधार पर अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता का गला घोंटा जा रहा है। इस प्रकार के प्रतिबन्धों को कानून का रूप दिया जा रहा है, जो 'राष्ट्रीय सरकार' के आदेशानुसार चलेंगे। अधिकांश समाचार-पत्रों ने सरकारी प्रतिबन्धों के समक्ष आत्मसमर्पण कर दिया है। अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का अपहरण करके अपने आलोचकों का मुंह बन्द कर दिया है, विरोधी विचारों का तो सवाल ही नहीं उठता। राष्ट्रवादी समाचार-पत्रों ने विचारों से अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का अधिकार छोड़ दिया है।

नागरिकों के सभा करने के अधिकार को भी समान रूप से खतरनाक माना गया। अब दफा 144 का उपयोग अधिक और जल्दी-जल्दी होने लगा है। इसे आपातकालीन कानून समझा जाता था लेकिन अब उसे सामान्य कानून के रूप में लागू किया जा रहा है। साम्प्रदायिक तनाव के दमन के लिए लोगों के नागरिक अधिकारों का दमन करने का बहाना बन जाता है। पुलिस को मनमाने ढंग से राष्ट्रीय सरकार और लोकप्रिय मंत्रिमंडलों के

अधीन अधिक, अधिकार सौंप दिये गये हैं। विधान मण्डलों के अधिवेशन के दिनों में भी अध्यादेश जारी करने की मांग बढ़ रही है और उनमें से अधिकतर दमनकारी हैं जिनके आधार पर लम्बे कारागार वास और देखते ही गोली मार देने का अधिकार प्राप्त कर लिया गया है। मजदूरों के प्रदर्शनों पर गोली चलना आम बात हो गयी है।

मजदूर आन्दोलन पर सैनिक अनुशासन लागू करना भी शुरू कर दिया गया है। योजना यह है कि मजदूर आन्दोलन को अधिनायकवादी राष्ट्रीय आन्दोलन का हिस्सा बना दिया जाय। कांग्रेस का मजदूर मोर्चा ट्रेड यूनियन कांग्रेस को हड़प लेना चाहता है और इस कार्य में मालिकों की सहायता उसे मिल रही है और स्वतन्त्र मजदूर संगठन, इण्डियन फैडरेशन ऑफ लैबर जैसे संगठनों के विरुद्ध संघर्ष शुरू कर दिया गया है। ट्रेड यूनियन कांग्रेस स्वतः काफी हद तक राष्ट्रीय कांग्रेस का सहायक संगठन बन चुका है। यदि कम्युनिस्ट लोग जिनका अनेक मजदूर यूनियनों पर अधिकार है, कांग्रेस के मजदूर मोर्चे के सामने आत्मसमर्पण नहीं करते तो उन्हें निकाल बाहर किया जायेगा। इस क्रम को आसान बनाने के उद्देश्य से कांग्रेसी मंत्रिमण्डलों द्वारा कम्युनिस्टों का दमन किया जा रहा है। मजदूर यूनियनों में काम करने वाले कम्युनिस्टों को गिरफ्तार किया जा रहा है और जहां वे लोग सक्रिय हैं वहां से उन्हें बाहर निकाला जा रहा है। इस प्रकार के समाचार रोज ही प्रकाशित हो रहे हैं।

व्यक्तिगत पत्र-व्यवहार में पहले से अधिक हस्तक्षेप किया जा रहा है। इस प्रकार के नागरिक अधिकारों के हनन में उत्तर प्रदेश का कांग्रेस मंत्रिमंडल अनावश्यक दूरी तक आगे बढ़ गया है। एक जिला पुलिस अधिकारी के परिपत्र के अनुसार सभी राजनीतिक पार्टियों के प्रमुख सदस्यों के पत्रव्यवहार की छानबीन (सैंसर) की जायेगी। यह प्रतिबन्ध कांग्रेस के नेताओं पर लागू नहीं है। हस्तक्षेप का यह अधिकार असीमित है। आदेश है कि सभी पत्र जिनमें ऐसी सूचना हो जो सरकार के लिए उपयोगी हो उसे सरकार के पास मूल पत्र के रूप में अथवा उसकी नकल के रूप में भेजा जाय और जहां जरूरी समझा जाय पत्र को पत्र पाने वाले व्यक्ति को न दिया जाय। इसके निर्णय का अधिकार इंटेलीजेन्स विभाग और गुप्तचर पुलिस को दिया गया है। यह अधिकार साम्राज्यवाद से उत्तराधिकार में सरकार को मिला है। यह एक अधिनायकवादी तरीका है और इससे एक पार्टी की तानाशाही स्थापित होती है। हमारी राष्ट्रीय सरकार ने कांग्रेस को छोड़कर सभी राजनीतिक पार्टियों पर ये प्रतिबन्ध लगा दिये हैं। इस असहनशील रवैये का यह

तार्किक प्रतिफल होगा कि सत्तासीन पार्टी को छोड़कर अन्य सभी पार्टियों का दमन किया जाय।

कांग्रेस मन्त्रिमण्डलों ने पुरुषों और महिलाओं के निजी जीवन में हस्तक्षेप करना शुरू कर दिया है। वे यह कार्य सार्वजनिक नैतिकता के नाम पर कर रहे हैं। वे ऐसे नियम बनाना चाहते हैं जिनको सिनेमा-चित्रों के निर्माण पर भी लागू किया जा सकेगा। उन्हें अवरोध और प्रतिबन्ध लगाने की अधिक चिन्ता है और जनता को सार्थक लाभ पहुँचाने के लिए चिन्तित नहीं हैं। अवरोध और प्रतिबन्ध स्वतंत्रता को प्रतिबन्धित करने के समान है।

बौद्धिक, भावनात्मक अनुशासन और नागरिक अधिकारों का दमन, और राजनीतिक सत्ता की तानाशाही का वातावरण बन रहा है। आर्थिक क्षेत्र में फासिज्म और आगे बढ़ रहा है। अन्तरिम राष्ट्रीय सरकार ने जो आरम्भिक महत्वपूर्ण काम किये हैं उनमें से एक औद्योगिक वित्त निगम की स्थापना है। इसके द्वारा सार्वजनिक पूंजी को निजी व्यापार में लगाया जायेगा। अन्तरिम सरकार की स्थापना के थोड़े दिन के भीतर उठाया गया यह कदम निरंकुश अर्थव्यवस्था की दिशा में लम्बा कदम है। देश में फासिस्टी अर्थव्यवस्था लागू करने का एक साक्ष्य यह भी है कि देश में आधुनिक शस्त्रास्त्रों से सज्जित शक्तिशाली सेना बनाने का प्रयास करना है। इस समय ऐसी सेना की क्या तात्कालिक आवश्यकता है। इस समय इसे खर्चीली समृद्धि का दिखावा ही कहा जायेगा। इसके साथ ही इसके भार को उठाने के लिए जनता पर अधिक कर भार डाला जायेगा, जिनमें अब अधिक कर भार उठाने की क्षमता नहीं रह गयी है। अहिंसा के सिद्धान्त का प्रचार करने वाले जब शक्तिशाली सेना बनाने की योजना बनाये तो उनके अन्तर्विरोध का पता चलता है जबकि आज की भारतीय स्थिति में इसकी आवश्यकता नहीं है। राष्ट्रीय सरकार ने आर्थिक विकास के लिए बम्बई योजना को अपनी योजना मान लिया है। उस योजना की मुख्य बात देश का तेजी से औद्योगिक विकास करना है और शुरू में उसके लिए बड़े उद्योगों को स्थापित किया जायेगा। योजना की आरम्भिक स्थिति के पहले ही महत्वाकांक्षी उद्योगपति जब उन्हें सार्वजनिक धन की सहायता मिलेगी, फिर भी उनके सामने बाजार की भयंकर समस्या आयेगी। बड़े उद्योगों के बने सामान को कहां बेचा जायेगा? भारतीय जनता अधिक मोटर गाड़ियाँ, रेल-इंजन खरीदने की स्थिति में नहीं है, यदि विमानों की खरीद की बात को छोड़ भी दिया जाय। और न वे लोग रसायनिकों और बिजली की खपत कर सकेंगे। इस समस्या को हल करने के लिए एक ही रास्ता है कि इनके

लिए कृत्रिम बाजार बनाया जाय। एक बड़ी सेना को आधुनिक शस्त्रास्त्रों से सज्जित करके इस उद्देश्य की पूर्ति की जा सकेगी। सरकार निजी क्षेत्र के भारी उद्योगों में बने सामान की ग्राहक बन जायेगी। इसके लिए भी सार्वजनिक धन का उपयोग किया जायेगा। इस प्रकार की अर्थव्यवस्था, शास्त्रीय रूप में फासिस्ट अर्थव्यवस्था होती है, जो अपनी आर्थिक समस्याओं को सुलझाने के लिए अनुशासित जनमत अपने पक्ष में रखने के लिए तानाशाही राजनीतिक शासन कायम करती है।

हमारे देश की वर्तमान घटनाएं इसी दिशा में हैं। मैं उसकी मोटी रूपरेखा ही प्रस्तुत कर सकता हूँ। लेकिन उसकी महत्वपूर्ण प्रवृत्तियों के कंगूरे स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ रहे हैं। छह वर्ष पूर्व रेडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी की स्थापना इसी प्रकार के खतरों से सचेत करने के लिए हुई थी, तो आज देश के समक्ष आये खतरों से सचेत करना उनका कर्त्तव्य है। राष्ट्रवादी संकुचित दृष्टिकोण के कारण ही इस प्रकार की असहनशील और तंगनजरी का रवैया अपनाया जा रहा है। इस खतरे का सामना करना एक महान कार्य है। रेडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी उसके आकार को घटाना नहीं चाहती, उसे तो निश्चयात्मक रूप से इसका सामना करना है। महान कठिनाइयों के होते हुए भी रेडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी ने उनका सामना किया है और उसका विकास हुआ है। अब इसका विकास और अधिक तेजी से होगा क्योंकि विचारशील व्यक्ति सत्ता में आये राष्ट्रवाद के अनुभव से निराश हो चुके हैं। अब वह समय आ गया है जब लोकतांत्रिक स्वतंत्रता और प्रगति के सभी प्रेमियों को ऐसी पार्टी के झण्डे के नीचे जमा होना चाहिए जो तर्क की आवाज उठाये चाहे उसे इसके लिए अरण्य रोदन ही क्यों न करना पड़े।

इसीलिए रेडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी का यह तीसरा अधिवेशन इस बात का जोरदार अनुभव करता है कि उसे फासिज्म के खतरे का सामना करना चाहिए, जिस खतरे का हमने 66 वर्ष पूर्व ही अनुभव किया था। देश की वर्तमान स्थिति में भारत में फासिज्म भिन्न तरीके अपनायेगा। राष्ट्रीय भावनाओं को उत्तेजित करने के साथ-साथ, जनता के पिछड़ेपन और बौद्धिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्र में मध्ययुगीन परम्पराओं को अपनाया जायेगा। ये बातें भारतीय फासिज्म की पूंजी हैं। इसका प्रभावशाली ढंग से सामना करने के लिए हमें समयोचित शस्त्रास्त्रों को अपनाना पड़ेगा। आरम्भ में ऐसे कुशल सैनिकों को लाना पड़ेगा जो रास्तों को साफ कर सकें और बारूदी सुरंगों को हटा सकें। इनका कार्य शत्रुओं के सामाजिक आधार को कमजोर करना होगा। हमारे अग्रिम दस्ते को बौद्धिक उन्नति, विवेक के द्वारा सांस्कृतिक

पिछड़ेपन के विरुद्ध संघर्ष करना पड़ेगा। उन्हें पुराने विचारों और अन्धविश्वास के विरुद्ध जूझना पड़ेगा। सांस्कृतिक और सैद्धान्तिक मोर्चों पर फासिज्म का हमें भारत में सामना करना पड़ेगा। उस युद्ध के लिए हमारी सेना भलीभाँति सुसज्जित है। अपने अस्तित्व के थोड़े समय में उसने एक संगिठत पार्टी का रूप ग्रहण कर लिया है और उसके वर्षों पहले अपने युग के लिए सबसे उपयुक्त क्रान्तिकारी दर्शन भी विकसित करने में सफलता प्राप्त की है। हमारा यह अधिवेशन सभी स्वतंत्रता प्रेमियों के सामने ऐसे अपराजय आयुध प्रस्तुत करेगा जिससे भारत के भविष्य के निर्णायक युद्धों में उनका प्रयोग किया जा सकेगा।

रेडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी के बम्बई में आयोजित तीसरे अखिल भारतीय अधिवेशन में 26 दिसम्बर, 1946 को दिया गया एम. एन. राय का उद्घाटन भाषण।

छः

मार्क्सवाद और रेडिकलवाद

मैं बहस को समाप्त करने का सुझाव नहीं दे रहा हूँ। यदि इन सिद्धांतों को भली प्रकार से समझने की आवश्यकता है तो इसके सम्बन्ध में और अधिक बहस होनी चाहिए। इस अधिवेशन में इन सिद्धांतों को रखते समय हमारा इरादा इनको पार्टी पर थोपना नहीं है। मैंने देहरादून कैम्प में कहा था और प्रान्तीय कैम्पों को भेजे गये अपने परिपत्र में भी कहा था कि कैम्प में जो विचार किया गया वह हमारे अनुभवों और उनके आधार पर निकाले गये निष्कर्षों से ये सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये हैं। लेकिन इनको पार्टी पर तब तक लागू नहीं किया जायेगा जब तक कि पार्टी के अधिवेशन में इन्हें स्वीकार नहीं कर लिया जायेगा। उन निष्कर्षों को इन सिद्धांतों में रखा गया और उन्हें अधिवेशन के सामने प्रस्तुत किया गया है। उन पर दो दृष्टियों से विचार किया जा सकता है। पहला, क्या ये सिद्धांत हमारे विचार-विमर्श की तर्कसंगत परिणति हैं। दूसरे, एक कदम आगे जाकर आप हमारे अनुभवों की यह भी जांच कर सकते हैं कि क्या वे सही हैं।

देहरादून कैम्प में हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति और देश की आन्तरिक स्थिति के सम्बन्ध में हमारी समीक्षा ठीक थी। यह बहस पार्टी के विभिन्न स्तरों पर भी चालू रही है। प्रान्तीय शिविरों में कुछ सन्देह व्यक्त किये गये। कुछ विरोधी आवाजें भी उठायी गयीं। लेकिन पूरी तरह से सफाई देने के बाद पार्टी ने देहरादून कैम्प के निष्कर्षों को स्वीकार कर लिया है कि अन्तर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय स्थिति की हमारी समीक्षा सही थी। ऐसे कुछ सदस्य हो सकते हैं जो देहरादून कैम्प में उपस्थित न रहे हों और वे यह कह सकते हैं कि वे वहां के निष्कर्षों को मानने के लिए बाध्य नहीं हैं। यदि इस प्रकार के फिजूल व्यवहारवाद को पार्टी में अपनाया जाता है तो उससे विज्ञान से भी भयंकर गड़बड़ी पैदा होगी। हमारे अति-व्यवहारवादी ऐसे व्यक्तिवाद का प्रतिनिधित्व करते हैं जो वास्तव में व्यक्तिवाद के आदर्शों के प्रतिकूल है जिसकी हमने इन सिद्धांतों में चर्चा की है और ऐसे सदस्य व्यक्तिवाद के मुद्दे पर हमसे अलग हो सकते हैं। यदि पार्टी में नवीन स्थिति आने पर कुछ लोग हमसे विदा होते हैं तो उनकी विदाई पर हमें दुःख होगा लेकिन इस सम्बन्ध में कुछ नहीं किया जा सकता।

सिद्धांतों के सम्बन्ध में विस्तृत स्पष्टीकरण देने के बाद और कुछ जोड़ने की जरूरत नहीं है और न उनके तात्पर्य को तत्काल बताया जा सकता है। मैं कुछ सन्देहों और आशंकाओं को दूर करने के उद्देश्य से कुछ शब्द कहना चाहूंगा, जो अब भी कामरेडों के मस्तिष्क में चक्कर लगा रहे हैं। इनको दो प्रकार से प्रकट किया गया है। पहला, क्या हम मार्क्सवाद के रास्ते से हट रहे हैं? यदि हाँ, तो हम कहां तक जायेंगे? इसी प्रश्न को दूसरी तरह, इस प्रकार रखा जा सकता है। क्या हमने भौतिकवाद को छोड़कर आदर्शवाद को अपना लिया है? यह भी कहा गया है कि क्या हमारी पार्टी को किसी प्रकार के दर्शन को अपनाने का अधिकार है। इसका अर्थ यह है कि हम आदर्शवाद और भौतिकवाद दोनों को अस्वीकार कर दें।

इन सिद्धांतों में ऐसे सन्देह की गुंजाइश नहीं है और न वह कोई सलाह चाहते हैं। सामाजिक और ऐतिहासिक विकास के अनुभवों के आधार पर मार्क्सवाद की परीक्षा का यह परिणाम है। उसी अनुभव के आधार पर मार्क्सवाद की समीक्षा की गयी है। ऐसा करने में इस बात का ध्यान रखा गया है कि जो बचाया जा सकता है, जो स्थायी और सुदृढ़ आधार पर हैं, मार्क्सवाद के उन तत्वों को बचाये रखने का प्रयास किया जाय। आधुनिक संसार की पृष्ठभूमि में हम अपने अनुभवों और निष्कर्षों को अपनाकर उनसे अपने व्यवहार के लिए मार्गदर्शन प्राप्त करें। यह करना न तो मार्क्सवाद को अस्वीकार करना है और न उस पर पुनर्विचार करना है। मार्क्सवाद विचारों को बन्द रखने की पद्धति नहीं है। उसमें अपने अनुभवों से सबक लेकर उसे समृद्ध करने की बात स्वीकार की जाती है। यही मार्क्सवाद का सार है और वह भविष्य के लिए दर्शन है जब तक कि उसे कठमुल्लापन के आधार पर अंधविश्वासी धर्म के रूप में स्वीकार न कर लिया जाय। आप लोगों में से जो लोग हमारे कथन को धर्मच्युत होना मान कर यह सन्देह प्रकट करते हैं कि हम मार्क्सवाद के रास्ते से हट रहे हैं, उन्हें मैं इन्हीं शब्दों से आश्वस्त करना चाहता हूँ।

मैं अब यह प्रमाणित करने का प्रयास करूँगा कि इस युग में हम लोग ही कार्ल मार्क्स के सच्चे अनुयायी हैं। स्वामिभक्ति का अर्थ बुद्धिहीनता नहीं है। हमारे सिद्धांत में बिना किसी भ्रम के यह कहा गया है कि संसार की पुनः रचना को, चाहे वह आर्थिक आधार पर क्यों न हो, भौतिकवादी दर्शन से प्रेरणा लेनी चाहिए। मैंने निश्चित रूप से राजनीतिक अवसरवाद को

अस्वीकार कर दिया है। उसका अर्थ सिद्धान्तहीन राजनीतिक व्यवहार है जिसे अवसरवाद कहा जा सकता है। हम एक ओर अपने कुछ साथियों की व्यवहारिक अथवा अवसर के अनुकूल कदम उठाने की सलाह अस्वीकार कर रहे हैं। इन लोगों का कहना है कि हमें किसी सिद्धान्त विशेष अथवा दर्शन से कोई मतलब नहीं रखना चाहिए। दूसरी ओर वे कहते हैं कि हम जिस भौतिकवाद को स्वीकार करते है वह स्पष्ट नहीं हैं। मैं समझता हूँ कि मानव के विविध क्रियाकलापों में, आर्थिक सम्बन्ध, मानव व्यवहार, राजनीतिक आचरण और सांस्कृतिक गतिविधियां सभी सम्मिलित हैं। मानव समाज का हिस्सा है। समाज प्रकृति का हिस्सा है और जीव जगत् भौतिक जड़ जगत् का हिस्सा है। अतः कोई भी राजनीतिक आचरण तब तक सफल नहीं हो सकता जब तक कि वह मौलिक दार्शनिक सिद्धान्तों के अनुकूल न हो। दर्शन, विज्ञानों का विज्ञान है। इसका अर्थ है विज्ञान का ज्ञान। ऐसी दशा में राजनीति को दर्शन से अलग कैसे किया जा सकता है जब तक कि राजनीति को केवल मूर्ख लोगों का सुरक्षित स्थल न मान लिया जाय। अकेले एकात्मवादी दर्शन को छोड़कर मानव व्यवहार—आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक अथवा सांस्कृतिक विवेक के आधार पर स्थिर नहीं किया जा सकता है। और भौतिकवाद ही ऐसा एकात्मवादी सम्भव दर्शन है।

लेकिन मार्क्सवाद के दो पहलू हैं। वह भौतिकवादी है और साथ ही हेतु विद्यावादी मीमांसा है। यह दुर्भाग्य है कि जो लोग मार्क्सवाद के एकाधिकार के दावेदार हैं वे उसके हेतुवादी मीमांसा पर अधिक जोर देते हैं। हमारा विकास भी उसी परम्परा में हुआ है। इसीलिए उनमें से कुछ स्वयं अन्तर्विरोध प्रकट करते हैं। वे निश्चयवाद को हेतुवादी मीमांसा मानते हैं जो उन्हें संशयवादी बना देता है। उनका विश्वास है कि मानव विकास की समस्त प्रक्रिया पूर्व निश्चित है, लोगों को केवल उन्हीं में शामिल होकर वैसे चलना है जैसे इतिहास का भाग्य उन्हें चलने का आदेश दे। उन्हें चाहे सामाजिक शक्तियां, उत्पादन के साधन अथवा चाहे और कोई नाम दिया जाय लेकिन आधुनिक युग के ये सभी देवता हठवादी पक्षपात से उत्पन्न होते हैं। इन बातों को मार्क्सवाद के तथाकथित विद्वानों ने मार्क्सवाद में घुसेड़ दिया है। हम मार्क्सवाद को मानववाद मानते हैं। हम पुनर्जागरण से प्रेरणा लेते हैं जो ईश्वर के विरुद्ध पृथ्वी पर मानव का विद्रोह था। हमारे इस आचरण का आधार मार्क्सवाद में ही मिल सकता है जो स्वयं पुनर्जागरण के मानववादी स्वतंत्र परम्परा में उत्पन्न हुआ था। मार्क्स अपने संसार का अद्भुत व्यक्ति था। मार्क्सवाद में हेतुवादी मीमांसा के आधार पर मानव की वलि समाज के समनिष्ट की कल्पना की बलिवेदी पर चढ़ा दी गई।

पुनर्जागरण के समय तक संसार में एक प्रकार का ही निश्चयवाद था। यह विश्वास किया जाता था कि हर बात ईश्वरीय इच्छा के अनुसार होती है। प्रत्येक बात का पूर्व निर्धारित रूप है। मनुष्यों को केवल उसी का अनुसरण करना है। पुनर्जागरण के द्वारा मानव ने इस भाग्यवादी व्यवहार के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। लेकिन बाद में अनेक कारणों से मानव के विद्रोह की उस भावना को भुला दिया गया (इस अवसर पर पुराने इतिहास की विवेचना करना सम्भव नहीं है)। लेकिन वह भावना विभिन्न सामाजिक दर्शनों के रूप में प्रकट हुई। अचेतन अथवा चेतन रूप में हेतुवादी मीमांसा के दृष्टिकोण को अपनाया गया।

इस सम्बन्ध में सोचिए, आखिर इस बात का क्या अर्थ है कि प्रत्येक बात का निश्चय उत्पादन के साधनों से होता है। पहले प्रत्येक बात के लिए अतिमानवीय शक्ति को माना जाता था। मार्क्स ने उसे उत्पादन के साधनों से माना। लेकिन क्या हम यह पूछ सकते हैं कि पहला उत्पादन का साधन किसने बनाया? उसकी शुरूआत कैसे हुई? क्या पहले मानव के हाथ में हथौड़ा और हंसिया था? नहीं, ऐसा नहीं था। मानव जिस समय इस संसार में आया उस समय उसने बड़ा उत्पादन का साधन, जो सबसे शक्तिशाली था उसका निर्माण किया और वह उसका मस्तिष्क था। मस्तिष्क किसी रहस्यवादी सामाजिक शक्ति अथवा ईश्वर ने उत्पन्न नहीं किया था। सृजन के इस औजार—मस्तिष्क के विकास की उत्पत्ति ढूंढ़ने के लिए हमें विभिन्न शारीरिक रूपों के निरन्तर विकास की प्रक्रिया को समझना पड़ेगा। इस प्रकार इतिहास अन्ततोगत्वा भौतिक जगत में समाहित हो जाता है। मनुष्य का मस्तिष्क सबसे शक्तिशाली उत्पादन का साधन है। जब आप उत्पादन के साधन की बात कहें उस समय भी इसको भुलाना नहीं चाहिए। हम सभी जन्म के समय से मस्तिष्क के साथ पैदा होते हैं और वही हमारी आधारभूत पूंजी है, यदि हम उसका सही मूल्यांकन कर सकें और सही उपयोग कर सकें। यदि आप, जड़ हथौड़े को पसन्द करते हैं, अथवा आधुनिक प्रोद्यौगिकी के अनुसंधानों को मस्तिष्क से अधिक महत्व देते हैं तो आपका भला हो, मैं यही कह सकता हूँ।

मानव प्राणी का जन्म हुआ तो उसके पास सबसे शक्तिशाली उत्पादन का साधन मौजूद था, जिसका निर्माण मनुष्य ने नहीं किया था, वरन् वह उसके अपने पशु (जीव) पूर्वज से उत्तराधिकार के रूप में मिला था। उस सृजनात्मक अस्त्र से उसने सबसे पहला बिना शरीर वाला उत्पादन के साधन का निर्माण किया। मानव किसी भी उत्पादन के साधन से बड़ा है जो उसके

द्वारा निर्मित है। लेकिन आप मानव-जाति के भविष्य को निश्चित करते समय उसे छोड़कर अन्य सब बातों का हिसाब लगाते हैं। मार्क्सवाद में यही कमी है जैसे वह अन्य सभी दर्शनों की कमी है। इसी कमी के कारण संसार में वर्तमान संकट की सी स्थिति उत्पन्न हो गयी है। हम मार्क्सवाद की इस गलती को सुधारना चाहते हैं। हम इस सम्बन्ध में काफी समय से विचार करते रहे हैं। आज हम चाहे जो कहें लेकिन इस तार्किक विचार-प्रक्रिया की शुरूआत रेडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी के संस्थापकों ने उसकी स्थापना के साथ ही की थी।

अब मैं आत्मचरित्रपरक नहीं होना चाहता। लेकिन आप लोगों में यह विचार न आये कि हमने केवल आप लोगों को प्रभावित करने के उद्देश्य से यह भारी और उच्च विचार के भार वाला दस्तावेज यों ही तैयार कर दिया है। मैं आपको यह बतलाना चाहता हूँ कि जब से मैंने अपने लिए यह विचार करना शुरू किया उस समय से मैं ऐसा दर्शन ढूंढ़ने का प्रयास करता रहा हूँ जिससे राजनीति को उपयोगी बनाया जा सके। आरम्भ में सोचता था कि मार्क्सवाद में वह गुण है। मैंने काफी समय तक मार्क्सवाद का अनुपालन किया लेकिन उसमें पूरा विश्वास नहीं हुआ। वह मेरे लिए पथ-प्रदर्शक था और मैंने मार्क्सवाद को एक आलोचक की दृष्टि से स्वीकार किया। मार्क्सवाद में विश्वास रखते हुए मैंने मार्क्सवाद की निरन्तर आलोचना की और अपने अनुभव के आधार पर उसकी परीक्षा की। आप सभी लोगों को मालूम है कि मैं कम्युनिस्ट अन्तर्राष्ट्रीय संघ से कैसे अलग हुआ। वह करीब 20 वर्ष पहले की बात है। आप लोग केवल घटनाएं जानते हैं। लेकिन मुझे आशंका है कि आप लोगों ने उन घटनाओं के सही मन्तव्यों को नहीं समझा है। वह कोई एक अथवा दूसरे मुद्दे पर मतभेद की बात नहीं थी, वे मतभेद सैद्धान्तिक थे।

सभी राजनीतिक कार्यकर्ता वाक्-चातुर्य से सिद्धान्त की बात करते हैं। इसका अर्थ क्या है? सिद्धान्त व्यवस्थित विचार समूह हैं, दूसरे शब्दों में, सिद्धांत सामाजिक और राजनीतिक आचरण के लिए आदर्श प्रमाण हैं। जब आप सिद्धांत की बात करते हैं तो उसे आप आर्थिक निश्चयवाद के आधार पर नहीं करते हैं। आप बिना जाने यह स्वीकार करते हैं कि आपका सामाजिक व्यवहार आर्थिक सम्बन्धों से निश्चित नहीं हुआ है वरन् उसे आपने एक आदर्श के रूप में स्वीकार किया है। चूंकि आप एक सिद्धांत को अपनाना स्वीकार करते हैं अतः आप उसी का अनुपालन करते हैं। इसका अर्थ है कि आपके पास एक दर्शन है। सभी राजनीतिक पार्टियाँ, सोशलिस्ट, कम्युनिस्ट,

प्रतिक्रियावादी अथवा क्रान्तिकारी, दक्षिणपंथी अथवा वामपंथी अथवा फासिस्ट, सभी का अपना दर्शन होता है। जब तक वह लूटपाट करने वालों का गिरोह मात्र न हो, बहुत-सी पार्टियां इस बात के लिए सचेत नहीं हो सकतीं कि उनका अपना कोई दर्शन है लेकिन हर एक के पास कोई न कोई दर्शन होता है।

जब "दि फिलासफी आफ फासिज्म" (फासिज्म का दर्शन) शीर्षक मेरी पुस्तक प्रकाशित हुई थी, उस समय मार्क्सवादी जगत में उसको बेहूदा बताकर शोर किया गया था। आपत्ति यह थी कि फासिज्म का दर्शन कैसे हो सकता है? वह डाकुओं का एक गिरोह है। फासिज्म के प्रतिकूल कम्युनिज्म के दर्शन को एक पूर्ण दर्शन माना जाता है। इसी आधार पर मार्क्सवादी पंडितों ने फासिज्म को एकाधिकारी पूंजीवाद माना था और यह भविष्यवाणी की थी कि उसका पतन शीघ्र हो जायेगा। उन्होंने इस बात की व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं समझी कि किस प्रकार एकाधिकारी पूंजीवाद के शक्तिशाली आधार पर संगठित राजनीतिक व्यवस्था कम्युनिस्ट प्रचार के जादू से कैसे नष्ट हो जायेगी। वास्तव में घटनाएँ इसके प्रतिकूल घटीं। कम्युनिस्ट पार्टियां भी जिनके समर्थन के लिए अन्तराष्ट्रीय सर्वहारा की सेना मौजूद थी, फासिज्म के प्रसार को रोकने से असमर्थ रहीं।

स्पष्ट है कि यह सोचना गलत था कि फासिज्म का कोई दर्शन नहीं है। जब तक दार्शनिक विचारों में गड़बड़ी न हो तब तक कोई राजनीतिक सिद्धान्तविद् ऐसे ऊपरी दृष्टिकोण को व्यक्त नहीं कर सकता। जो लोग घटनाओं की समीक्षा में ऐसे गलत दृष्टिकोण अपनाते हैं उन्हें अपने को मार्क्सवादी कहने का अधिकार नहीं है। इतिहास की वैज्ञानिक समीक्षा पद्धति के अनुसार सभी घटनाओं की विश्वासप्रद और विवेकसम्मत व्याख्या करना सम्भव है। समसामयिक इतिहास में फासिज्म महत्वपूर्ण दृश्यमान है। इसकी व्याख्या की जानी चाहिए। उसे केवल एकाधिकारी पूंजीवाद अथवा हिटलरी साम्राज्यवाद कहना काफी नहीं है चाहे यह स्थिति कितनी ही कोतूहलपूर्ण क्यों न हो। ऐतिहासिक दृष्टि से फासिज्म और एकाधिकारी पूंजीवाद को एकरूप बताना ठीक नहीं है। एकाधिकारी पूंजीवाद जर्मनी में फासिज्म के उदय होने से पहले अनेक देशों में मौजूद था। उन देशों में फासिस्ट लोग सत्ता पर अधिकार नहीं जमा सके। दूसरी ओर, इटली, जहाँ फासिज्म को सबसे पहले सफलता मिली, आर्थिक दृष्टि से पिछड़ा देश था। फासिज्म को तब तक व्याख्या नहीं की जा सकती जब तक उसके सैद्धान्तिक उपादानो और सांस्कृतिक वातावरण को न समझ लिया जाय। जिन सिद्धान्तों की

सहायता से जर्मनी में फासिज्म सता में आया उनका सम्बन्ध उस देश के सैद्धान्तिक और सांस्कृतिक इतिहास से देखा जा सकता है। फासिज्म का उदय भी विचारों की गतिशीलता से हुआ है। एकाधिकारी पूंजीवाद अथवा पतनशील पूंजीवाद ने यह देखा कि फासिज्म के सिद्धान्तों का उपयोग वह अपनी रक्षा के लिए कर सकता है। जर्मनी की सांस्कृतिक परम्परा अथवा अन्य किसी देश की ऐसी परम्परा, जहां फासिज्म पैदा हुआ, उसका निर्धारण भूतकाल के आर्थिक हालातों से हो सकता है। लेकिन आर्थिक पिछड़ेपन को एकाधिकारी पूंजीवाद से जोड़ने का प्रयास गलत है। इतिहास में विचारों की भूमिका का सही अनुमान लगाने में विफलता के कारण घटनाओं की व्याख्या सही नहीं हो पाती है। किसी भी राजनीतिक पार्टी के कार्यों की समीक्षा बिना किसी पूर्वाग्रहों के की जानी चाहिए। ऐसा करके आप इस निष्कर्ष पर पहुंचेंगे कि उनके कार्यों के पीछे निश्चित दार्शनिक सिद्धान्त है। उसे ही मिथ्या दर्शन कहा जा सकता है।

जिन लोगों की यह आशंका है कि इन सिद्धान्तों को अपनाने से हमारी पार्टी के कार्यकलापों को पक्षाघात हो जायेगा, वे लोग हमारी तुलना कम्युनिस्टों से करते हैं। क्या कम्युनिस्ट पार्टी के पास अपना दर्शन नहीं है? क्या कम्युनिस्ट पार्टी अपने को मार्क्सवादी पार्टी नहीं कहती है? और लोग भी मार्क्सवाद और मार्क्सवादी दर्शन के दावेदार हैं। यदि दर्शन अपनाने के कारण कम्युनिस्ट पार्टी निष्क्रिय नहीं हो गयी है वरन् वह उसे कट्टरपन के साथ अपने सिद्धान्त पर चलने की प्रेरणा देती है तो दर्शन अपनाने से हम में निष्क्रियता क्यों आयेगी? इस प्रकार कम्युनिस्ट पार्टी के उदाहरण से यह सिद्ध नहीं होता कि राजनीति का दर्शन से कोई सम्बन्ध नहीं होना चाहिए। कम्युनिस्टों से अधिक सिद्धान्त की बातचीत कौन करता है, अब भी हम में से कुछ के लिए वे ही आदर्श हैं। त्रुटिपूर्ण दर्शन अथवा दर्शन की गलत समझ अथवा सही दर्शन के मिथ्याकरण से कामकाज में कठमुल्लापन पैदा होता है। सही दार्शनिक दृष्टिकोण से विवेकसम्मत कार्य होंगे और अन्ततः वे अधिक शक्तिशाली और प्रभावकारी होंगे। हमें अपनी ईमानदारी और अपनी भावनाओं की निष्ठा पर विश्वास क्यों नहीं है? जो लोग यह सोचते हैं कि विवेकपूर्ण ढंग से दार्शनिक सिद्धान्तों से हमारी राजनीतिक गतिविधियों को नैतिक आधार और प्रेरणा न मिल कर हमारे कार्यों में निष्क्रियता आयेगी, वे लोग स्वयं निष्क्रियता के शिकार हैं। वे लोग हर दशा में निष्क्रिय रहेंगे चाहे हम दर्शन को स्वीकार करें अथवा उसे स्वीकार न करें। देर-सवेर यह गौरवहीन भाग्य उन्हें दबोच लेगा। इस समय भी उन्हें हमारे क्रिया-

कलापों के प्रभावकारी होने में विश्वास नहीं है क्योंकि वह कम्युनिस्ट ढांचे के अनुकूल नहीं है। यदि हमारे सिद्धान्तों के कारण ऐसे लोग पार्टी के कार्य क्षेत्र से गायब हो जायेंगे तो मैं इसमें क्या कर सकता हूं। वे कार्य क्षेत्र से भागने का बहाना ढूंढ़ रहे हैं। इस समय भी वे लोग सही ढंग से सक्रिय नहीं हैं।

भौतिकवादी दर्शन से अपने सम्बन्धों के बारे में मैं अब तक जो कुछ कह चुका हूं उसके बाद अब उसमें कुछ और जोड़ने की जरूरत नहीं है। इस बात की आशंका नहीं होनी चाहिए कि यह दर्शन आदर्शवादी बन जायेगा। इस सम्बन्ध में दो सिद्धान्त प्रश्न को साफ कर देते हैं। लेकिन सिद्धान्त निबन्ध नहीं हो सकता है। यह तो एक सिद्धान्त का प्रतिपादन है, उसको अधिक कड़े शब्दों में अथवा शब्दजाल से परिभाषित नहीं किया जा सकता। सम्बन्धित विषय के सही ज्ञान के बिना सिद्धान्त में निहित बातों को समझने में कठिनाई होती है। लेकिन यदि कोई अपने सामान्य ज्ञान के आधार पर बिना पूर्वाग्रहों और हठों को छोड़कर उनको समझने का प्रयास करेगा तो इन विवेकसम्मत सिद्धान्तों को वह आसानी से समझ सकेगा। इस सम्बन्ध में विशिष्ट पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग नहीं किया गया है। इनमें अस्पष्टता नहीं है। इन्हें सरल भाषा में सीधे ढंग से व्यक्त किया गया है और यदि कोई व्यक्ति इन्हें सममझने का ठीक प्रयास करेगा तो उसे समझने में कठिनाई नहीं होगी। शंका और सन्देह से इसमें गलतियां देखी जा सकेंगी और उनके प्रभाव में इनको समझा नहीं जा सकेगा। कुछ लोग और मैं समझता हूं बहुत कम लोग बौद्धिक छल-प्रपंच के कारण इस बात को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हैं कि राजनीति को विवेकसम्मत और नैतिक होना चाहिए और क्रान्तिकारी को धर्म प्रचारक बनने की जरूरत नहीं है। लेकिन जो लोग इन सिद्धान्तों को स्वीकार नहीं कर पा रहे हैं वे बौद्धिक रूप से इनका विरोध करने के लिए सक्षम नहीं हैं। वे लोग अकेले पड़ गये हैं। लेकिन यह रेडिकल सिद्धान्तों के प्रतिकूल होगा कि आलोचकों के विरुद्ध अनुशासन की धमकी का प्रयोग किया जाय। जो कामरेड इन सिद्धान्तों के विरोधी हैं अथवा जो उनके कुछ हिस्सों को स्वीकार नहीं करते वे लोग यांत्रिक अनुशासन के समर्थक हैं। वे लोग बौद्धिक दबाव में विश्वास करते हैं। रेडिकल अनुशासन को संगठनात्मक नैतिकता मानता है। जो लोग रेडिकल सिद्धान्त के इस मौलिक सिद्धान्त को नहीं समझते हैं वे लोग अनुशासन सम्बन्धी हमारे दृष्टिकोण को नहीं समझेंगे और इस प्रकार कट्टर ढंग से अनुशासन की बात करने वाले लोग पार्टी में अनुशासनहीनता उत्पन्न करेंगे।

चूंकि हमने ऐतिहासिक घटनाओं को आर्थिक निश्चयवाद से निर्णीत नहीं माना है अतः हम विचारों के क्षेत्र में इन नियमों को लागू नहीं करते हैं। हम मार्क्सवाद के इस सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करते कि नैतिक मूल्य, सांस्कृतिक स्वरूप, सौन्दर्य भावना आर्थिक सम्बन्धों के आधार पर बने ऊपरी ढांचे अथवा कंगूरे हैं। वे लोग पूंजीवादी कला और पूंजीवादी दर्शन की बातें करते हैं। यदि ये बातें पूंजीवादी समाज के आर्थिक सम्बन्धों के मात्र ऊपरी ढांचे हैं तो वे पूंजीवाद से उत्पन्न माने जायेंगे। लेकिन तथ्य क्या है? आज जिसे पूंजीवादी दर्शन अथवा आधुनिक आदर्शवादी दर्शन कहा जाता है वह पूंजीवादी सामाजिक व्यवस्था की स्थापना से पहले के हैं। कार्ल मार्क्स ने ने हीगल को तो पैरों पर खड़ा किया लेकिन वह स्वयं सिर के बल खड़ा हो गया। क्या वह सर्वहारा के दर्शन का मसीहा नहीं है जिसको उसके बाद दृश्य पटल पर आना था। उसने स्वयं अपने उस सिद्धान्त को अस्वीकार कर दिया कि सिद्धान्त विशेष उस वर्ग द्वारा बनाया जाता है जो उसे अपनाता है।

नकारात्मक रवैया अपनाना आसान होता है और आप कह सकते हैं कि आपके विरोधियों के विचार गलत हैं। लेकिन इतना पर्याप्त नहीं है, आपको उसका विकल्प प्रस्तुत करना चाहिए। हम मार्क्सवाद के इस बेहूदे सिद्धान्त को तब तक अस्वीकार नहीं कर सकते जब तक हम यह प्रमाणित न कर दें कि सैद्धान्तिक ऊपरी ढांचे हवा में नहीं हैं वरन् उनकी भी अपनी जड़ें हैं। विचारों पर समाजिक अनुभवों का प्रभाव पड़ता है, इसमें सन्देह नहीं है लेकिन वे साथ-साथ सामाजिक और ऐतिहासिक घटनाओं को प्रभावित करते हैं। लेकिन उनका तर्क और गतिशीलता अपनी होती है। जब इस सिद्धान्त को स्थापित कर लिया जायेगा, तब ही ऊपरी ढांचे के सिद्धान्त को चुनौती दी जा सकेगी। यह सिद्ध करना है कि सिद्धान्त मात्र ऊपरी ढांचे नहीं होते, उनकी अपनी इमारत होती है। यदि उन पर सामाजिक सम्बन्धों का प्रभाव पड़ता है, तो वह आकस्मिक है और उसमें कोई कारक सम्बन्ध नहीं है।

यदि हम विचारों की गतिशीलता का उद्गम भौतिक जगत की सीमाओं में कहीं ढूंढ़ पाते तो हम आदर्शवादी क्षेत्र में पहुंच जाते हैं। यदि उनका सम्बन्ध इतिहास की भौतिक प्रक्रियाओं से नहीं जोड़ा जा सकता तो उनकी उत्पत्ति को प्रकृति की अतिरिक्त शक्तियों अथवा आध्यात्मिक आधार पर स्वीकार करना पड़ेगा। इसलिए हम यह कहने पर जोर देते हैं कि विचार किस प्रकार उत्पन्न होते हैं। शब्द-शास्त्रीय-भाषा सिद्धान्त के आधार पर हम आदर्शवाद को अस्वीकार करते हैं, क्योंकि भाषा सिद्धान्त से उसकी पुष्टि नहीं होती है। उसके लिए अन्य आधार अथवा आदेश भी विचलित हैं।

आदर्शवादी भाषा सिद्धान्त को कुछ समय पूर्व तक इसलिए अपदस्थ नहीं किया जा सका क्योंकि शारीरिक विज्ञान का ज्ञान पिछड़ा हुआ था। शरीर रचना सिद्धान्त की आधुनिक शोधों और अन्य विज्ञान के अनुसंधानों ने इस जटिल समस्या को सुलझा दिया है और अब वह आधार नहीं रह गया है जिनके आधार पर मार्क्सवाद के विरुद्ध तर्क प्रस्तुत किये जाते थे। अनुभव अथवा बोध प्राप्त करने की समस्या अब भयानक नहीं रह गयी है। अब भौतिक विज्ञान और मनोविज्ञान की खाड़ी को पाटना असम्भव नहीं रह गया है। अब विचारों की उत्पत्ति शारीरिक विकास की समस्त प्रक्रिया में देखी जा सकती है और उसी के माध्यम से उसे भौतिक जगत की एकात्मवादी कल्पना से जोड़ा जा सकता है।

यह हमारा सिद्धान्त है। सिद्धान्त का देना ही पर्याप्त नहीं है। मानव की शारीरिक रचना जड़ जगत की पृष्ठभूमि में विकसित होती है। उसी के अनुसार मानव के तर्क और भावनाओं की उत्पत्ति को मानव के शारीरिक विकास से पहले की स्थिति से जोड़ा जा सकता है और यह देखा जा सकता है कि उनका मूल भौतिक जगत है।

वह दर्शन सबसे अधिक प्रेरणाप्रद है जो हमें समस्त अस्तित्व को समझने और उत्पत्ति से उसे जोड़ने की क्षमता देता है और जो भौतिक जगत को अन्य योजनाओं की समान उत्पत्ति का बोध कराता है। वह ईश्वर की कल्पना को खत्म करता है। जब तक ईश्वर की भावना को हम नहीं छोड़ पाते तब तक स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष करने की बात का कोई लाभ नहीं है। क्योंकि यदि मानव आध्यात्मिक रूप से स्वतंत्र नहीं है, तो वह इस पृथ्वी पर स्वतन्त्रता की विजय प्राप्त नहीं कर सकता है। ऐसा दर्शन—स्वतंत्रता का दर्शन—मानव में वह अग्नि उत्पन्न कर सकता है जिसके द्वारा वह महान कार्य करने की क्षमता प्राप्त करता है। रेडिकल डेमोक्रेटिक आन्दोलन इनमें अकेला नहीं रह सकता। इन दर्शन का मुख्य कार्य अपने अनुयायियों को शिक्षित करना है। हमारी पार्टी के सभी सदस्य हमारे इन दार्शनिक सिद्धान्तों को आरम्भ से ही भली प्रकार नहीं समझ सकेंगे। लेकिन पार्टी में रहने के कारण उन्हें भली-भांति रेडिकल सिद्धान्त को अंगीकार करने में सहायता दी जा सकेगी। संसार के पुनर्निर्माण के अपने ध्येय को पूरा करने के लिए रेडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी को दृढ़ आस्थावान भौतिकवादियों की पार्टी बनाना पड़ेगा।

संसार की पुनः रचना हम आज और कल में पूरी नहीं कर सकते। इसलिए जब आप एक आन्दोलन खड़ा करना चाहते हैं तो आरम्भ में ही

आन्दोलन में शामिल होने की इच्छा व्यक्त करने वाले व्यक्ति से यह नहीं पूछ सकते कि उसका ईश्वर में विश्वास है अथवा नहीं। लोग ईश्वर में क्यों विश्वास करते हैं ? क्योंकि वे अपने को असहाय पाते हैं। उन्हें कुछ सहारे और सांत्वना की जरूरत होती है। इसीलिए वे ईश्वर पर भरोसा कर लेते हैं। यदि भारतीय जनता का इस जीवन के बाद के जीवन में भरोसा न रह जाय तो भारत एक बड़ा पागलखाना बन जायेगा। इसलिए जनता के जीवन में भविष्य की आशा की क्षीण ज्योति उसे युगों से सम्बल देती रही है। उनके लिए धार्मिक विश्वास एक आवश्यकता थी। इसी के अधार पर उनका जीवन चलता रहा है और उसमें उन्हें एक अर्थबोध भी रहा है। इससे इस संसार में जीवन की निराशा और दुःखों में भी वह जीवित रहे हैं। भारतीय जनता को इस जीवन में सुख की अभिलाषा और स्वतंत्रता के लिए उद्देश्यपरक संघर्ष के लिए तैयार करने के पहले उक्त आध्यात्मिक वातावरण को बदलना चाहिए। किसी भी उग्र सामाजिक परिवर्तन के पहले दार्शनिक क्रान्ति अवश्य होनी चाहिए। इसीलिए एक सच्ची क्रान्तिकारी पार्टी के पास क्रान्तिकारी दर्शन होना आवश्यक है। ईश्वर और भाग्य में विश्वास का भारतीय जनता की गुलामी की जंजीरों से मजबूत सम्बन्ध है। रेडिकल लोकतंत्र के दार्शनिक सिद्धांतों से आध्यात्मिक गुलामी की जंजीरों को नष्ट किया जा सकेगा, जिसे वे बहुत समय से ढोते रहे हैं। रेडिकल डेमोक्रेटिक आन्दोलन भारतीय जनता को भाग्य और ईश्वर अथवा देवताओं के विरुद्ध विद्रोह करने की शिक्षा देगा और यह बतायेगा कि ईश्वर और देवता उनके भाग्य के नियंता नहीं हैं। रेडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी अध्यापकों का प्रशिक्षण देने वाली संस्था बन जायेगी। वह जनता के शिक्षकों की शिक्षक बन जायेगी। हम आरम्भ में लोगों से ईश्वर के विरुद्ध विद्रोह करने का नहीं कहेंगे। पहले हम उनमें यह विश्वास उत्पन्न करने का प्रयास करेंगे कि वे उतने असहाय नहीं हैं जितना वे अपने को समझते हैं। हम उन्हें समझायेंगे कि वे स्वयं अपने भाग्य के निर्माता हैं। जैसे ही वे यह अनुभव करेंगे कि इस संसार का दुःख-दैन्य उनका अपना बनाया हुआ है क्योंकि वे उसे स्वयं स्वीकार कर लेते हैं और निष्क्रियता अपना लेते हैं। तब उन्हें यह प्रतीत होगा कि वे दुःख-दैन्य के जीवन के बजाय स्वयं अच्छे जीवन का निर्माण कर सकते हैं। इस प्रकार धीरे-धीरे उन्हें आत्मविश्वास होगा। यदि एक लोकतांत्रिक आन्दोलन को इस प्रकार प्रेरित नहीं किया जायेगा तो उसका विफल होना अवश्यंभावी है। इसीलिए हमारे इस युग में तानाशाही एक फैशन की बात हो गई है। रेडिकल डेमोक्रेसी से ही इस पागलपन को रोका जा सकता है।

हमारी पार्टी शून्य में विश्वास नहीं करती है। उसमें भारतीय मानवता के सभी भागों के लोग हैं, उसमें इन लोगों की सभी बीमारियों और कमजोरियों का प्रतिनिधित्व है। चूंकि भारतीयों में अधिकांश लोग ईश्वर में विश्वास रखते हैं। हमारी पार्टी के भी कुछ लोग इस राष्ट्रीय उत्तराधिकार के हिस्सेदार हैं। लेकिन पार्टी में उन लोगों को कोढ़ियों की भांति बीमार नहीं समझा जायेगा, जो अपनी बीमारी फैलाते रहते हैं। उनके साथ अस्पताल के रोगियों के साथ किया जाने वाला व्यवहार किया जायेगा। जिस प्रकार योग्य और प्रशिक्षित डॉक्टर और नर्सें बीमारों का इलाज और तीमारदारी करती हैं वैसे ही परम्परागत रूप से ईश्वर में विश्वास करने वालों का इलाज और देखभाल की जायेगी।

मान लीजिए कि इस अधिवेशन के बाद हम पार्टी में बीस हजार नये सदस्य बनाते हैं। सामान्य भारतीयों की भांति उनके विचार 'राष्ट्रीय चरित्र' अथवा 'सांस्कृतिक परम्परा' से प्रभावित होंगे। आपको यह अपेक्षा नहीं करनी चाहिए कि रेडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी के बाहर रेडिकल लोग ही मिलेंगे। यदि ऐसा सम्भव होता तो फिर उस दिशा में हमें कुछ करने को बाकी नहीं रहता। और रेडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी एक बेकार का संगठन हो जाता। हमारे नये सदस्यों में रेडिकल होने की क्षमता होगी, इतना ही माना जा सकता है। वे ऐसे होंगे अन्यथा वे रेडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी में क्यों शामिल होंगे ? यह हमारा कार्य होगा कि हम उनको पक्का रेडिकल बनायें ? लेकिन हमारे वरिष्ठ लोगों में ऐसे बहुत से लोग हैं जो यह स्वीकार नहीं करते कि नये रेडिकल बनाने का काम हमारी पार्टी का महत्वपूर्ण कार्यकलाप है। इन लोगों को इस बात का खतरा है कि अधिक संख्या में नये सदस्यों के पार्टी में भर्ती हो जाने से जो पूरी तौर से रेडिकल नहीं बने हैं, पार्टी में गिरावट आ जायेगी और वह अवसरवादियों का अखाड़ा बन जायेगा। ऐसे वरिष्ठ नेता यद्यपि पार्टी के प्रति निष्ठावान हैं लेकिन पार्टी के कार्यकलाप के सम्बन्ध में उनके विचार गलत हैं। उनका ख्याल है कि पार्टी को केवल बाह्य जगत में काम करना पड़ता है। वे यह भूल जाते हैं कि पार्टी का आन्तरिक जीवन भी होता है। वे यही भारी भूल करते हैं जिससे पार्टी के विकास में बाधा उत्पन्न होती है क्योंकि वे इस बात को अनुभव नहीं करते कि पार्टी में मानव प्राणी हैं, जिनमें क्षमताएं हैं लेकिन उन्हें उन क्षमताओं की पहचान करनी चाहिए। जब तक रेडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी यह दावा नहीं कर सकती कि मानव की स्वतंत्रता के संघर्ष में उनके सदस्य स्वयं स्वतन्त्र हैं और इस संघर्ष का कुशलता से नेतृत्व कर सकते हैं तब तक

हमारा दावा सही नहीं माना जायेगा। पार्टी की यही भूमिका है कि वह अपने सदस्यों की क्षमताओं से उन्हें जाग्रत करें और उन्हें मानव जाति की मुक्ति के संघर्ष में कुशल नेता बनाने में सहायक हों।

आप देखें कि पार्टी के सम्बन्ध में हमारे विचार नए हैं। इस बात को हृदयंगम कराने के लिए मुझे फेशनेबुल तरीके से मुस्कराना चाहिए। एक राजनीतिक पार्टी की तुलना एक अवयवधारी शरीर से की जा सकती है, वह एक जीवित वस्तु है जिसका अपना आन्तरिक जीवन भी होता है। यह आन्तरिक जीवन क्या है? यह वह सम्बन्ध है जिससे शरीर का सम्बन्ध पर्यावरण से भी होता है। लेकिन उस शरीर की क्या दशा होती है जिसका जीवन अवरुद्ध हो जाता है और जो काम करना बन्द कर देता है। वह मर जाता है। आन्तरिक जीवन के ठप्प हो जाने के साथ ही शरीर के अंगों का पर्यावरण से संबंध खत्म हो जाता है। हमारे कुछ वरिष्ठ लोग यह नहीं समझते हैं कि पर्यावरण को प्रभावित करने के पहले शरीर जीवित होना चाहिए। दूसरे शब्दों में, इसे पार्टी का क्रियाकलाप कहा जा सकता है। यह क्रियाकलाप पार्टी का आन्तरिक जीवन है। वरिष्ठ लोग अपने कट्टरपन के कारण पार्टी के क्रियाकलाप सम्बन्धी अपने गलत विचारों के द्वारा पार्टी को ही मार डालेंगे। हम पार्टी को जीवित रखना चाहते हैं और यह भी याद रखना चाहते हैं कि उसकी आत्मा है, इसके कहने का तात्पर्य यह है कि उसमें अपने आपकी चेतना है। वह इस बात से भी सजग है कि उसमें मानव प्राणी है और उसका पहला कर्त्तव्य है कि वह अपने प्रत्येक सदस्य का पूरा विकास करने में योगदान करे। यदि हमारी पार्टी में बीस हजार सदस्य हैं और उनमें से पन्द्रह हजार लोग पार्टी के आन्तरिक जीवन की धड़कन उत्पन्न कर रहे हैं और बाकी बाह्य क्रियाकलापों में लगे हैं, तो पार्टी का विकास तेजी से होगा और उसके बाह्य क्रियाकलाप भी अधिक प्रभावशाली होंगे। पार्टी के आन्तरिक जीवन का अर्थ है कि हम पार्टी के सदस्यों को अपने अनुभवों के प्रति सजग बनायें, जिनके आधार पर हमारे नये विचार निश्चित हुए हैं। यह एक बड़ा काम है। इस अवसर पर पार्टी का यही सबसे महत्वपूर्ण काम है जिसे हमें पूरा करना है।

हम सामाजिक पुनर्निर्माण के नये विचारों को विकसित करते रहे हैं। हमारा सिद्धान्त अंधविश्वास नहीं है। उनका विकास तार्किक ढंग से हुआ है और यह विकास कुछ व्यक्तियों के मस्तिष्क में हुआ है। लेकिन जब इन्हें मूर्त रूप प्रदान किया जायेगा तो पूरी पार्टी में भी इसकी चेतना उत्पन्न होगी। यह कार्य नेतृत्व का है। लोगों में यह चेतना उत्पन्न करनी है कि उनकी आकांक्षा

क्या है। दूसरे शब्दों में, नेतृत्व का कार्य लोगों को इस दिशा में शिक्षित करना है। लेकिन इस देश में यह विश्वास किया जाता है कि अनुयायी जितने अधिक मूढ़ होंगे, नेतृत्व उतना ही महान् माना जाएगा। भारतीय जनता के बौद्धिक पिछड़ेपन के कारण नेतृत्व को महान मानने का यह कौतूहलजनक रवैया बना है। यह केवल कहावत नहीं है कि जनता को वैसा ही नेता मिलता है जिसके लिए उसमें योग्यता है। भारत के राजनीतिक आंदोलन में कोई दर्शन नहीं है लेकिन अनुशासन बहुत अधिक है। पार्टी के संबंध में यह विचित्र भावना हमारी पार्टी में प्रवेश कर गयी है। तानाशाही क्रांतिकारियों का आदर्श बन गया है, लेकिन उसके लिए पार्टी आन्तरिक लोकतंत्र से मुक्त रहनी चाहिए, यदि वह अपने को क्रान्तिकारी विशिष्टता से मंडित करना चाहती है। हमारी पार्टी के सदस्यों को इस प्रकार की भावना से अपने को मुक्त रखना चाहिए। हमारी पार्टी में जब अधिकांश सदस्य नये विचारों को अंगीकार कर लेंगे उस समय उन लोगों का प्रभाव घट जायेगा जो पार्टी के पुराने विचारों और नेतृत्व से बँधे हुए हैं। यही कारण है कि वे इस बात से ही थरथराने लगते हैं कि पार्टी का एक दर्शन है।

सत्ता के सम्बन्ध में हमारे व्यवहार से भी हममें से कुछ लोगों में सन्देह और गलतफहमी उत्पन्न हुई है। बिना राजनीतिक सत्ता के सामाजिक पुनर्निर्माण का कोई कार्यक्रम पूरा नहीं किया जा सकता है। रेडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी किस प्रकार सत्ता पर अपना अधिकार करेगी? यह सन्देह इसलिए पैदा होता है कि क्रान्तिकारी राजनीति का लक्ष्य सत्ता पर अधिकार करने के समान माना जाता है। हमारा राजनीतिक लक्ष्य स्वतन्त्रता प्राप्त करना है। और सत्ता उस लक्ष्य का साधन है। रेडिकलवाद सत्ता के प्रश्न को अनदेखा नहीं करता है, लेकिन वह उसे उचित महत्व दिये जाने के पक्ष में है। रेडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी सत्ता को प्राप्त कर उसे अपने पास अनिश्चित काल तक यह कह कर नहीं रखना चाहती है कि उसे समाज का पुनर्निर्माण करना है। वह लोकतंत्र को इस प्रकार संगठित करना चाहती है कि सभी नागरिक सार्वभौम सत्ता सम्पन्न बनकर उसको प्रभावशाली ढंग से कार्यान्वित करें। इस प्रक्रिया के पूरे होने पर कोई भी राजनीतिक पार्टी सत्ता पर किसी बहाने से अधिकार नहीं कर सकेगी। सभी अन्य राजनीतिक सिद्धान्तों और क्रान्तिकारी राजनीतिक व्यवहार में सत्ता को अधिक महत्व देने से स्वतन्त्रता को नकार दिया जाता है और साधन को ही साध्य मान लिया जाता है। इसी आधार पर पार्टी की तानाशाही अनिश्चितकाल के लिए स्थापित की जाती है और उसको न्यायोचित सिद्ध करने का प्रयास

किया जाता है। यदि आप सत्ता के तथाकथित क्रान्तिकारी सिद्धान्त को कार्यान्वित करेंगे तो उसके निम्नलिखित परिणाम होंगे : सत्ता का होना स्वतंत्रता की शर्त है, अतः क्रान्तिकारी पार्टी को सत्ता पर अधिकार करना चाहिए, उसे यह कार्य पूरे राष्ट्र और वर्ग की ओर से करना पड़ता है, लेकिन सत्ता पर पार्टी का अधिकार होने से उस पर समस्त नागरिकों अथवा वर्ग का नियन्त्रण नहीं होता और सत्ता पर एक छोटे गुट का अधिकार हो जाता है, जो स्वयं वह सत्ता कभी नहीं छोड़ना चाहता। ऐसी स्थिति में स्वतंत्रता असम्भव हो जाती है। सामूहिक (समष्टि) का अहंकार राष्ट्र अथवा वर्ग के नाम पर प्रकट होता है और वह बहुसंख्यक लोगों की शाश्वत गुलामी को उचित मानने लगता है।

इसी कारण से हम स्वतंत्रता के विचार पर इतना अधिक जोर देते हैं। स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिए यह आवश्यक है कि सत्ता पर जनता का अधिकार हो, यद्यपि यह सम्भव है कि परिस्थितियों की भिन्नता के कारण सत्ता पर अधिकार करने के तरीके भिन्न हों और यह भी सम्भव है कि शक्तियों के सम्बन्धों में परिवर्तन आये। लेकिन सामाजिक पुनर्निर्माण का हमारा कार्यक्रम भलीभांति परिभाषित मानवीय स्वतंत्रता के दर्शन पर आधारित है। ऐसी स्थिति में सत्ता पर क्रान्तिकारी पार्टी के एकाधिकार का खतरा नहीं रहेगा। हम सत्ता पर अधिकार पार्टी द्वारा नहीं करना चाहते हैं। देश भर में जनसमितियां संगठित करके सभी देशवासियों को उसमें शामिल किया जायेगा। संविधान का जो मसविदा हमने तैयार किया है उसमें सत्ता के विकेन्द्रीकरण को दिखाया गया है जिसमें समाज के प्रत्येक बालिग व्यक्ति को सार्वभौम सत्ता में हिस्सेदार बनाया जायेगा।

अनुभव से शिक्षा लेकर हमने संसदीय लोकतान्त्रिक व्यवस्था और हर प्रकार की तानाशाही को अस्वीकार कर दिया है। लेकिन हम हवा में अथवा शून्य में नहीं लटक रहे हैं। हमने तीसरा विकल्प दिया है। जो हम समझते हैं कि सबसे अच्छा है यद्यपि हम इस बात का दावा नहीं करते कि वह शाश्वत रूप में सबसे अच्छा रहेगा। भूतकाल की समीक्षा से हमने कुछ निष्कर्ष निकाले हैं और वे हमारे वर्तमान कार्यकलापों के लिए विश्वसनीय पथ-प्रदर्शक हो सकते हैं। लेकिन भविष्य सम्बन्धी सुझावों को तो प्रयोगात्मक और निश्चित अवस्थाओं के लिए प्रस्तुत किया जा सकता है। जिन सभी बातों का प्रभाव पड़ेगा उन पर अभी विचार नहीं किया जा सकता। फिर भी त्रुटियों की गुंजाइश रख कर हमने कुछ भावी कार्यक्रम प्रस्तुत किये हैं, उनमें रहस्य के आधार पर सफलता का दावा नहीं किया गया है।

इन सिद्धान्तों के अन्तिम भाग में ऐसा निदान है, जिसको अब तक व्यवहारजन्य आदेश प्राप्त नहीं हुआ है, लेकिन उसको तर्क संगत आधार पर सम्भव माना जा सकता है। हम समाज की एक नयी राजनीति और आर्थिक संगठन की रूपरेखा देखते हैं जिसमें समाज के सभी व्यक्तियों की स्वतंत्रता की अधिकाधिक सुरक्षा होगी।

हमने आपके समक्ष रेडिकलवाद के दर्शन की एक सुसम्बद्ध तस्वीर प्रस्तुत की है। हमने यह रूपरेखा भी प्रस्तुत की है कि हमारे दर्शन से अनुप्राणित होकर समाज का पुनर्निर्माण किस प्रकार किया जा सकेगा। इन सिद्धान्तों में क्रान्तिकारी राजनीति के सिद्धान्त और व्यवहार के सम्बन्ध में विस्तृत वक्तव्य दिया गया है, जिसको विश्वव्यापी अनुभव के आधार पर मूर्तरूप देने का प्रयास किया गया है।

रेडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी के बम्बई में आयोजित तीसरे अधिवेशन के प्रतिनिधि सम्मेलन में 27 दिसम्बर, 1946 सिद्धान्त पत्र का मसविदा प्रस्तुत करते समय एम. एन. राय का भाषण।

सात

कम्युनिज्म से आगे—नवमानववाद की ओर

मुझे उस दस्तावेज के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करने हैं जो देखने से किसी राजनीतिक पार्टी के अधिवेशन के लिए तर्कसंगत नहीं हैं। यह दस्तावेज आपको सुनाया जा चुका है और उसकी छपी प्रतियां आप लोगों में बांटी जा चुकी हैं। मैं यह मान लेता हूँ कि अधिवेशन के प्रतिनिधियों को छोड़कर इस अवसर पर उपस्थित लोगों को इस बात पर आश्चर्य होगा कि ऐसे विषयों पर राजनीतिक सभा में क्यों विचार किया जा रहा है। इन लोगों ने बड़ी कृपा करके अधिवेशन में तीन दिन हिस्सा लेकर हमारी नयी राजनीतिक पार्टी को प्रोत्साहन प्रदान किया है। इनमें से कुछ लोगों को हमारी बातें नई मालूम पड़ती होंगी और कुछ में कुछ निराशा भी हो सकती है और यदि वे आलोचक नहीं हैं तो वे भी कुछ इस तरह सोचने लगे होंगे कि हम यहां इसलिए आये थे कि यह सुनें कि यह राजनीतिक पार्टी क्या करना चाहती है और विभिन्न समस्याओं के प्रति, जो आज देश के सामने है, हमारा क्या दृष्टिकोण है, वे समस्याएं पुरानी पार्टियों और उसके महान नेताओं को परेशान किये हुए हैं। इन व्यवहारिक बातों के अतिरिक्त यह नई पार्टी अपना समय अमूर्त प्रश्नों पर अपने विचार व्यक्त करने में क्यों नष्ट कर रही है जिनका राजनीति से सीधा सम्बन्ध नहीं दिखाई पड़ता है।

मैं यह कहूंगा कि राजनीति की इस प्रकार समझदारी दिखावटी है, जो आज के भ्रमों को उत्पन्न करने में सहायक हुई है। इस प्रकार की भ्रामक स्थिति केवल हमारे देश में ही नहीं है वरन् इस समय सभी देशों में यही दशा है। अतः राजनीतिक समस्याओं पर भिन्न दृष्टिकोण अपना कर निराशा के इस वातावरण को दूर किया जा सकता है और मानव जाति के भविष्य की किरण के दर्शन किये जा सकते हैं। सभ्य संसार की रक्षा द्वितीय महायुद्ध से तो हो गयी है लेकिन अब भी वह इतिहास के अत्यन्त गम्भीर संकट में फंसी हुई है। सम्पूर्ण आधुनिक सभ्यता संकट में है। सांस्कृतिक और बौद्धिक मूल्य जो सभ्य मानव जाति की महान उपलब्धियों के आधार पर बने थे, उसके लिए खतरे उत्पन्न हो गये हैं। जो लोग मानव जाति के उत्तराधिकार के रूप में उनको अपनाना चाहते हैं वे लोग राजनीति के गंदे वातावरण से अपने को अलग रखकर राजनीति और संसार के भविष्य को पेशेवर राजनीतिज्ञों के के जुआड़ी के ऐसे दांव अपनाने के लिए नहीं छोड़ सकते। वे लोग शान्ति की बातें करते हैं। संसार एक नये युद्ध की ओर बढ़ रहा है। कहीं स्थिरता नहीं है, न राजनीतिक क्षेत्र में और न आर्थिक क्षेत्र में। इस समय संसार में निराशा का वातावरण है, जब तक कि शान्तिपूर्वक विचार करके इस निराशा को दूर करने का प्रयास न किया जाय।

मनोविज्ञान और इतिहास के ध्यानपूर्वक अध्ययन से यह निष्कर्ष निकलता है कि पराजय सदैव अमिश्रित बुराई ही नहीं होती। वास्तव में पराजय से विचारों को प्रेरणा मिलती है। यदि एक विजय के बाद दूसरी विजय होती जाय और ऐसी कठिनाई सामने न आये जो हमें अपने से अभिभूत कर ले तो किसी व्यक्ति में आलस्य उत्पन्न हो सकता है और उसका प्रभाव विचारों पर भी पड़ता है। जब हमारे सभी प्रयास असफल होते दिखाई दें और जब हमारा रास्ता फूलों से सज्जित न मालूम हो तो हम तेजी से सोचना शुरू करते हैं। वैसी कठिन स्थिति में मानव ज्ञान और समझदारी तेजी से बढ़ती है और मानव जाति के सामने विकास का नया दृश्य प्रकट होता है। सम्भवतः वर्तमान संकट का यह सबसे उज्ज्वल पक्ष कहा जा सकता है।

राष्ट्रों के शिखर नेता, राजनीतिज्ञ और राजनीतिक नेता जो अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को पुनर्गठित करने का प्रयास कर रहे हैं वे लोग अपने-अपने दृष्टिकोण से संसार का पुनर्निर्माण का प्रयास कर रहे हैं। उनमें से कोई स्वतंत्र नहीं है। उनमें से प्रत्येक के अपने पूर्व निर्धारित विचार और निहित-स्वार्थ हैं। लेकिन जनासक्त और निष्पक्ष पर्यवेक्षक इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि मामूली मरम्मत से काम नहीं चलेगा। हमारी समस्त सभ्यता को गम्भीर रोग लग गया है जिसके लिए उग्र इलाज की जरूरत है। वे लोग गम्भीरता से विकासशील नये और गर्भित विचारों में संलग्न हैं जिनको सन्तुलित व्यवस्था से जोड़ने की आवश्यकता है, जिससे इस संकट से निकला जा सके।

हमारे अधिवेशन में स्वीकृत सिद्धान्तों में जिन विचारों को रखा गया है वे नये नहीं है। और न इनको विकसित करने का श्रेय केवल रेडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी को है। इन विचारों को समय की आत्मा की आवाज कहा जा सकता है। जब विजयी फासिज्म ने समस्त सभ्य संसार को अंधकार में ढकेल दिया था और इतिहास के ऊषाकाल से विकसित स्वतंत्रता की उस ज्योति को खत्म कर देने का खतरा पैदा कर दिया था, जिसने कदम-कदम पर मानव का पथ-प्रदर्शन किया था, उस स्थिति में संसार के विभिन्न देशों में फैले सुदृढ़ आत्मविश्वास वाले और स्पष्ट दृष्टि वाले पुरुषों और

महिलाओं ने इस संकट से निकलने के लिए मार्ग ढूंढ़ने का प्रयास शुरू किया है। समय के साथ उनकी संख्या बढ़ गई है और उनके विचार साहसी हो गये हैं और विचारों ने एक निश्चित रूप ग्रहण कर लिया है। हमारे पुराने विचारों के तार-तार अलग हो गये और अब वे आकर्षक नहीं रह गये हैं। अब सभ्य मानव जाति के समक्ष नये विचारों को प्रतिपादित करने की आवश्यकता है। लेकिन जब तक समस्त संसार महायुद्ध की विभीषिका से आवृत्त था, संसार के विभिन्न क्षेत्रों में फैले हुए विचारशील व्यक्ति परस्पर विचार-विमर्श नहीं कर पा रहे थे। इसके कहने का तात्पर्य है कि उस दशा में जीवन का नया दर्शन नहीं बन पा रहा था, जिससे मानव समाज के आधारभूत पुनर्निर्माण की प्रेरणा प्राप्त की जा सकती। सौभाग्य से युद्ध अब समाप्त हो गया है और यद्यपि शान्ति स्थापना अब भी दूर है, फिर भी अब नये विचारों की स्थापना का कार्य शुरू किया जा सकता है और इस प्रयास से संसार शान्ति के निकट पहुंच सकेगा। पुरुष और महिलाएं जो समय की आत्मा का प्रतिनिधित्व करते हैं, वे नये दर्शन का विकास करने वाली शक्तियों के रूप में एक साथ मिल सकते हैं और दर्शन की ऐसी ज्योति प्रज्ज्वलित कर सकते हैं जो भविष्य में आने वाले अन्धकार के समय भी हमारा मार्गदर्शन कर सकता है।

हमारे देश में ऐसे लोग हैं जो इस दिशा में महत्वपूर्ण कार्य कर रहे हैं। युद्ध के आरम्भ होने के समय से इन लोगों ने रेडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी की स्थापना करके यह कार्य शुरू कर दिया है। इसकी तुलना राजनीतिक क्षेत्र में होने वाली साधारण घटना से नहीं की जा सकती। इसको समय की गति में शायद भुलाया नहीं जा सकेगा। रेडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी के संस्थापक गहरी भावनाओं से प्रभावित थे। वे समस्त मानवता के भविष्य के प्रति चिन्तित थे। दुर्भाग्य से उस समय उनके कार्यकलापों को लोग ठीक से समझ नहीं सके। उनके सम्बन्ध में गलतफहमी के शिकार लोगों ने उनको अपशब्द कहे, उनकी निन्दा की और उनका विरोध किया। वे उस समय भारतीय जनता को प्रगतिशील शक्तियों के समर्थन के लिए तैयार नहीं कर सके जब समस्त मानव जाति जीवन-मृत्यु के संघर्ष में, प्रगति और प्रतिक्रिया के संघर्ष में फंसी हुई थी। उनकी उस विफलता का छद्म रूप से एक लाभ हुआ। उस समय बड़े मसलों को उठाने का समय नहीं था, लेकिन उससे हमें गम्भीरता से विचार करने का अवसर मिला। यह क्या वजह थी कि केवल अशिक्षित जनता ही नहीं, भारतीय मानव जाति के पिछड़े लोग ही नहीं वरन् पुरानी संस्कृति और उच्च आदर्शों से अनुप्रेरित, आधुनिक शिक्षा से लाभान्वित लोग

संकट की गम्भीरता नहीं समझ सके। यह केवल ब्रिटिश साम्राज्यवाद और जर्मन फासिज्म के बीच हो रहे युद्ध का सवाल नहीं था वरन् उस संकट की बात थी जिसने समस्त मानव जाति को ढक लिया और यह खतरा उत्पन्न हो गया था कि या तो समस्त मानवता बचेगी अथवा उसका विनाश हो जायेगा।

चारों ओर देखते हुए हमें उस प्रश्न का उत्तर ढूंढ़ना था और हमने यह पाया कि वह संकट हमारे लिए नया नहीं था फिर भी हमारे देश का समस्त राजनीतिक जीवन कितनी खोखली नींव पर खड़ा है। वे लोग स्वतंत्रता, स्वाधीनता, समाजवाद और कम्युनिज्म की बातें करते थे। वे वर्गहीन समाज और आर्थिक पुनर्निर्माण की बातें करते थे, लेकिन उनमें से किसी ने इस प्रकार का सवाल नहीं उठाया था : हम राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिए इतना बलिदान क्यों करते हैं ? क्या हमारी स्वतंत्रता का आदर्श अमूर्त है ? किस प्रकार सोशलिज्म अथवा कम्युनिज्म इस संसार में स्वर्ग की स्थापना कर सकेगा ? किस प्रकार उत्पादन के स्वामित्व को व्यक्तियों के हाथ से लेकर उसे राष्ट्रीय सरकार अथवा वर्ग राज्य को सौंप देने भर से हमारी समस्याएं कैसे सुलझ जायेंगी ? ऐसे प्रश्नों की एकदम उपेक्षा कर दी गई। यह राजनीति और सामाजिक पुनर्निर्माण का दिखावटी रूप था। दूसरे देशों में भी लोगों के ऐसे विचार थे। इन्हीं कारणों से राजनीतिक आचरण का अधःपतन हो गया और उसका एक ही काम रह गया कि सत्ता के लिए किस प्रकार नग्न संघर्ष किया जाय। इसी के परिणामस्वरूप समाज के पुनर्निर्माण के आन्दोलन को बार-बार पराजित होना पड़ा। पिछले इतिहास का सिंहावलोकन करने और उससे सबक लेने के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि उक्त प्रश्नों को उठाया जाना चाहिए, न केवल अपने देश के सम्बन्ध में वरन् संसार भर के लिए इनको उठाया जाना चाहिए। हमें यह भी अनुभव हुआ है कि भारत की समस्या को सुलझाने के लिए उसे विश्वव्यापी संकट की पृष्ठभूमि में देखना चाहिए। भारत की स्वतंत्रता और सामाजिक पुनर्निर्माण की समस्या संसार व्यापी समस्या का हिस्सा है अतः उसके लिए जीवन के नये दर्शन के दृष्टिकोण को अपनाना चाहिए। इसके द्वारा राजनीति की नींव को सुदृढ़ बना कर उसे मानव मूल्यों के अनुरूप बनाया जा सकेगा। मानव की आवश्यकताओं के प्रति राजनीतिक आचरण को चिन्ताशील बनना चाहिए। उसे केवल एक राष्ट्र और एक वर्ग का भ्रामक विचार नहीं माना जाना चाहिए।

इस समय संसार में बहुत से 'वाद', बहुत से सिद्धान्त और बहुत से विचार मौजूद हैं। ऐसी स्थिति में जब तक गम्भीर विचारशील व्यक्तियों के

सामने कुछ नये विचार न रखे जायं तब तक उनकी ओर ध्यान नहीं किया जायेगा। इतिहास में स्थायी रूप से रहस्यमय बातें नहीं होतीं। प्रत्येक दिन शून्य से कुछ न कुछ प्रकट नहीं होता है। जब कोई नई बात होती है तो वह कुछ आवश्यक होती है। रेडिकल डेमोक्रेसी के सिद्धान्तों में जिन विचारों की रूपरेखा प्रस्तुत की गयी है संसार के विभिन्न क्षेत्रों में विचारशील पुरुषों और महिलाओं के मस्तिष्क में उनका मंथन हो रहा था। इन सभी व्यक्तियों ने मानव इतिहास की संकट की घड़ी में समान रूप से अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की है। हम इन विचारों पर अपना 'पैटेंट' अधिकार नहीं मानते हैं। हमने इन विचारों को उत्पन्न करने, उन्हें एक रूप देने और उनका विस्तार करने में अपना योगदान किया है। ये विचार मानव इतिहास की दार्शनिक व्याख्या से उत्पन्न हुए हैं और इनके द्वारा मानव जाति के समान उत्तराधिकार वाले मूल्यों का पुनर्मूल्यांकन किया गया है। विचारों की इस नई रोशनी से सभ्य समाज दमनकारी निराशा के अंधकार में भविष्य के लिए अपना रास्ता देख सकेगा।

प्लेटों के समय से राजनीति की आधारभूत समस्या राज्य और व्यक्ति के सम्बन्ध की रही है। इस पूरे समय में इस समस्या ने राजनीतिक विचारों को आश्चर्य चकित किया है और आधुनिक राजनीतिक दर्शन को भी प्रभावित किया है कि कुछ लोग व्यक्ति को समाज का प्रतिवादी रूप मानते हैं। यदि व्यक्ति सचमुच में समाज का प्रतिवादी है और यदि समाज की प्रगति व्यक्ति की कीमत पर सम्भव है तो व्यक्ति के अस्तित्व को समाज के साथ समन्वित नहीं किया जा सकता। यह मानना मानव इतिहास की विफलता ही कहा जायेगा। और संसार एक यांत्रिक पैशाचिकता का चित्र बन जायेगा जिसमें आत्म-विनाश में लोग लगे दिखाई देंगे। इस वर्तमान संकट के सम्बन्ध में गम्भीर दृष्टिकोण अपनाये जाने की आवश्यकता है जिससे मौलिक समस्या पर पुनर्विचार करना आरम्भ किया जा सके, जिससे समाज और व्यक्ति तथा व्यक्ति और राज्य के सम्बन्धों को सन्तुलित किया जा सके।

आधुनिक संसार में विशेष रूप से 19 वी शताब्दी के मध्यकाल से व्यक्ति का एकदम लोप हो गया है। केवल स्पष्ट रूप से प्रतिक्रियावादी विचारों में ही नहीं वरन् तथाकथित प्रगतिशील और मुक्तिदायी राजनीतिक सिद्धान्तों में व्यक्ति का महत्व नहीं रह गया है।

नाजीवाद और फासिज्म को अधिनायकवादी मान कर उनकी निन्दा की जाती है। इन विचारों में व्यक्ति को उसकी सार्वभौम सत्ता से वंचित

कर दिया जाता है और उसकी स्थिति समाज की एक बड़ी मशीन के एक पुर्जे के समान मानी जाती है और समाज की मशीन को समष्टि के अहंकार से मंडित किया जाता है। कल हमारी पार्टी के जनरल सेक्रेटरी ने इस बात की ओर संकेत किया था कि किस प्रकार राष्ट्रवाद, अपने आन्तरिक कारणों से अधिनायकवाद के अतिरिक्त और कुछ नहीं है क्योंकि उसमें भी समष्टिगत अहंकार है। जिसे राष्ट्र कहा जा रहा है। यह एक अध्यात्मवादी भावना है, फिर भी शारीरिक अवयवधारी मानव प्राणी को राष्ट्र की महान और गौरवशाली भावना के लिए अपना सब कुछ बलिदान करने को कहा जाता है। यही राष्ट्रवाद का सारतत्व है। इसका अर्थ है कि यथार्थ का बलिदान एक कल्पित भावना की वेदी पर कर दिया जाय। राष्ट्र प्रत्येक व्यक्ति की सम्पूर्ण स्वामी भक्ति का दावेदार नहीं हो सकता जब तक वह एकात्मवादी दर्शन को स्वीकार न कर ले। इसके अतिरिक्त उसका और कोई ईश्वर नहीं हो सकता और अन्य किसी को उसकी वलि का हिस्सा नहीं मिल सकता है। देश को राष्ट्र-देवता का पूजा स्थल माना जाता है। देश में रहने वाले सभी व्यक्तियों को उसके प्रति निष्ठावान होना चाहिए, वे अपने प्रति भी निष्ठावान नहीं हो सकते। ऐसी दशा में राष्ट्र की अमूर्त भावना—एकाधिकारी भावना में राजनीति को देवी के रूप में स्वीकार किया जाता है और उसके अस्तित्व को प्रमाणित नहीं किया जा सकता। जब तक इस प्रकार की समष्टि की कल्पित भावना के समक्ष आत्मसमर्पण न कर दिया जाय तब तक राष्ट्र का अस्तित्व नहीं रह सकता।

देश में इस समय जैसा वातावरण है उसमें राजनीतिक धर्म की कट्टर भावनाओं का प्रभाव है और ऐसे बहुत कम लोग हैं जो राष्ट्रवाद सम्बन्धी वक्तव्य की सचाई को स्वीकार कर सकें चाहे यह प्रश्न भारत में हो, जर्मनी हो अथवा जापान में हो। यह भावना अपने आन्तरिक कारणों से अधिनायकवादी विचार पद्धति का अंग है। शीघ्र ही राष्ट्र की इस भावना में केवल तर्कसंगत विचार-विमर्श का निष्कर्ष नहीं रहेगा वरन् उसका अनुभव हमारे सामने आ जायेगा, उसका व्यवहारवादी सत्य प्रकट हो जायेगा। निस्सन्देह भारतीय राष्ट्रवाद ने अपने अधिनायकवादी भद्दे दांत दिखाना शुरू कर दिया है। एक देश, एक पार्टी और एक नेता के सिद्धान्त का उपदेश बिना किसी विरोध के किया जा रहा है। व्यवहार में असहनशीलता का जोर है। प्रान्तों और केन्द्र में एक पार्टी की सरकार की स्थापना हो चुकी है। एकता के नाम पर इस पद्धति का समर्थन किया जा रहा है। इसी तर्क के आधार पर राष्ट्रवाद राजनीति के विरोधियों को देश के प्रति विश्वासघाती और राष्ट्र के प्रति

गद्दारी करने वाला बताया जाता है। राष्ट्रवाद के झण्डे के नीचे भारत तानाशाही की ओर बढ़ रहा है। इतना ही नहीं वह इस दिशा में काफी आगे बढ़ गया है।

अधिनायकवाद अथवा तानाशाही स्वतंत्रता के विचार का नकारात्मक रूप है। भारतीय राजनीतिक जीवन में एक दूसरी दिशा से उसका प्रवेश हो रहा है। कम्युनिज्म भी अधिनायकवादी विचार है। यदि मनुष्य के समूह के अतिरिक्त राष्ट्र और कुछ नहीं है तो उसी आधार में किसी वर्ग के अमूर्त अस्तित्व को उसमें शामिल व्यक्तियों के अस्तित्व के ऊपर माना जाता है। कम्युनिज्म समष्टि अहंकार का उल्लेख एक वर्ग के नाम पर करता है, वह समस्त समाज अथवा किसी वर्ग विशेष के नाम पर ऐसा नहीं करता है। परिणामस्वरूप समाज में सभी वर्गों को समाप्त करके, एक वर्ग रह जाने पर वर्गहीन समाज की स्थापना का दावा किया जाता है। ऐसे वर्गहीन समाज की स्थापना का लक्ष्य है जिसमें समाज की एक शारीरिक विकास की कल्पना की जाती है। अवयवधारी शरीर के रूप में समाज में विभिन्न अंग होते हैं, लेकिन उनके अस्तित्व को स्वतंत्र नहीं माना जाता है, उनका अपना कोई इतिहास नहीं होता और सामाजिक प्रगति के लक्ष्य के अनुरूप काम करने के अलावा उनका कोई अन्य कार्य नहीं होता है। व्यक्ति, हाड़-मांस के शरीर वाले व्यक्ति समाज के निर्माता हैं। वे समाज के अधीन गुलाम नहीं हैं। वे अपनी इच्छानुसार काम करने के लिए स्वतंत्र हैं अतः उन्हें काल्पनिक समष्टि-वादी अहंकार का गुलाम नहीं माना जाना चाहिए। जिस प्रकार राष्ट्रवाद में व्यक्ति को समष्टि का गुलाम बनाया जाता है उसी प्रकार कम्युनिज्म में भी व्यक्ति-पुरुष-स्त्री सभी को समष्टि का गुलाम बना लिया जाता है। व्यक्तियों के बिना न राष्ट्र और न वर्ग और न समाज ही सम्भव है। लेकिन व्यक्ति की स्वतंत्रता और उसके अस्तित्व को नकार कर तानाशाही की सैद्धान्तिक आधारशिला बनाई जाती है। यह बात केवल घटना, अथवा प्रतिकूल हठ नहीं है कि सर्वहारा की तानाशाही कम्युनिज्म का आधारभूत विश्वास बन गया है। समष्टिवादी अहंकार की तर्कसंगत परिणति उसके मनमाने ढंग और अमूर्त समष्टिवादी अहंकार से ही उत्पन्न होती है। इसी प्रकार के सिद्धान्त से व्यक्ति से गुलाम बनने की मांग की जाती है। चूंकि मानव सामाजिक संसार का निर्माता है, कोई भी सामाजिक संगठन जिसमें व्यक्ति के सार्वभौम अधिकार का हनन किया जाता है उसे मुक्तिदायी नहीं कहा जा सकता है।

कम्युनिज्म और तानाशाही की एकरूपता से चाहे वह संक्रमणशील-काल के लिए क्यों न हो, इन्कार नहीं किया जा सकता। लेकिन कम्युनिज्म

को राष्ट्रवाद की भांति तानाशाही बनाने का कड़ा विरोध किया जायेगा। इसलिए कि तानाशाही अथवा अधिनायकवाद में स्वतंत्रता का हनन है। हमें इस सम्बन्ध में कुछ विस्तार से विचार करना चाहिए। यह कहा जाता है कि समाज के आर्थिक जीवन की सभी असमानताएं इसलिए हैं कि उसमें अल्पसंख्यक लोगों का आधिपत्य है। दूसरे शब्दों में उत्पादन के साधनों पर व्यक्तिगत स्वामित्व के कारण असमानता उत्पन्न होती है। इसलिए उत्पादन के साधनों पर व्यक्तिगत स्वामित्व नहीं होना चाहिए वरन् उन पर राज्य का अधिकार होना चाहिए। ऐसा होने पर आर्थिक समानता होगी और उससे स्वतः राजनीतिक समानता आ जायेगी। ऊपरी तौर से देखने से यह बात सम्भव मालूम होती है। प्रारम्भिक समाजवादियों ने कल्पनालोक में ऐसी तस्वीर बनायी थी जिसे वे निकट भविष्य में सम्भव मानते थे। कार्ल मार्क्स ने उन कल्पनावादी समाजवादियों का मजाक उड़ाया और पूंजीवाद से कम्युनिज्म लाने के सामाजिक पुनर्निर्माण की कल्पना की यांत्रिक व्याख्या प्रस्तुत की। यह प्रक्रिया अपने आप पूरी नहीं होगी यद्यपि पूंजीवाद के आन्तरिक संकटों से उसका निर्धारण होगा अतः उसे अनिवार्य मान लिया गया है।

सर्वहारा राजनीतिक सत्ता पर अधिकार करके अपना राज्य स्थापित करता है जो उसके वर्ग के समष्टिगत अहंकार का प्रतीक है। उत्पादन के साधनों पर से व्यक्तिगत स्वामित्व को समाप्त कर उसे राज्य को हस्तांतरित कर दिया जाता है। उत्पादन के साधनों का स्वामित्व सामूहिक हो जाता है, यह माना जाता है। लेकिन क्या ऐसा होता है? स्वामित्व एक वर्ग से हटाकर दूसरे वर्ग को सौंप दिया जाता है। पूंजीवादी वर्ग के लोग उत्पादन के साधनों के पूंजीपति वर्ग के रूप में स्वामी होते हैं, मार्क्सवाद में ऐसा ही कहा गया है। वह स्वामित्व भी सामूहिक ही था और उसका भी समष्टिवादी अहंकार था। इस आधार पर पूंजीवादी स्वामित्व भी सही तरीके से निजी स्वामित्व नहीं था। वह सामूहिक स्वामित्व था। इसीलिए स्वामित्व के हस्तांतरण से कोई परिवर्तन नहीं होता है। फिर भी वे कहते हैं कि उत्पादन के साधनों का स्वामित्व का राष्ट्रीयकरण अथवा समाजीकरण कर दिया गया है। यथार्थ में स्वामित्व पर निजी अधिकार रहता है क्योंकि उस पर एक वर्ग का अधिकार होता है, पूरे समाज का नहीं। लेकिन उसे संक्रमणशील स्थिति माना जाता है। धीरे-धीरे सभी अन्य वर्ग नष्ट हो जाते हैं और एक वर्ग का समाज रह जाता है और वैसा समाज और राज्य का एक रूप हो जाता है अतः राज्य के स्वामित्व को समाज का स्वामित्व समझा जायेगा। यह भी अधिक सम्भव मालूम होता है। इसी आधार पर मार्क्सवाद को प्रगतिशील और मुक्तिदायी

कह कर उसकी प्रशंसा की गयी और उसने एक शताब्दी तक मानव जाति के अधिकांश लोगों को अपने वश में रखा।

लेकिन राज्य तो फिर भी बाकी रहता है और राज्य मार्क्सवाद के अनुसार सत्तासीन वर्ग के हाथ में दण्ड होता है। जब वर्ग नहीं होगा और जब राज्य और समाज पूरी तौर से एक रूप हो जायेगा तो राज्य सत्ता का दण्ड नहीं रह जायेगा। यह कहने का तात्पर्य यह है कि तब राज्य नहीं रहेगा क्योंकि कि उसे दण्ड के रूप में काम करने की आवश्यता नहीं रहेगी। इस मनोकामना में एक भ्रम है। इसमें यह माना गया है कि अतिशय ओद्योगीकृत समाज में राजनीतिक संगठन होता है। अतः यह मार्क्सवादी कल्पना कि कम्युनिज्म में राज्य का तिरोहरण हो जायेगा वह कभी साकार नहीं होगी। और यदि व्यक्ति की स्वतंत्रता उसी दशा में सम्भव है जब उपर्युक्त कल्पना साकार हो तो मानव कभी स्वतंत्र नहीं होगा। इस प्रकार स्वतंत्रता का निषेध कम्युनिस्ट सिद्धान्त पद्धति में निहित है। ऐसा प्रतीत होता है कि स्वयं कार्ल मार्क्स और मार्क्सवाद के आरम्भिक सिद्धान्तवादियों ने अपने विचारों के तार्किक निर्णयों पर विचार नहीं किया। मार्क्स मानववादी था और उसने अपने दर्शन का प्रतिपादन स्वतंत्रता के दर्शन के रूप में किया था। फिर भी उसका सिद्धान्त उसमें चाहे जितना उत्साह और आदर्शवादी कौशल हो, वह भ्रामक बना रहा है। विचारशील व्यक्ति उससे सन्तुष्ट नहीं हुए। इसी कारण उसमें और कुछ अधिक जोड़ने की जरूरत महसूस की गयी और समष्टिवादी अहंकार को उसमें अपनाया गया। समाज को सामूहिक सामाजिक प्रगति के लिए पुनर्गठित करने की आवश्यकता स्वीकार की गयी। कम्युनिज्म को एक अच्छे समाज की अपनी आरम्भिक कल्पना से हट जाना पड़ा। मुक्ति देने वाले दर्शन की स्वतंत्रता के निषेध को स्वीकार करना पड़ा जिसके द्वारा व्यक्तियों-पुरुषों और महिलाओं के स्वतंत्र अस्तित्व को अस्वीकार कर दिया गया।

सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि समाज और व्यक्ति का क्या सम्बन्ध है। पूरा समाज क्या है। क्या वह उन मानव प्राणियों के अतिरिक्त उनके ऊपर आधिपत्य रखने वाला अलग संगठन है? कम्युनिस्ट समाज की स्थापना के लिए हम सभी का बलिदान करना चाहिए और हर व्यक्ति को उसके लिए काम करना चाहिए। सामाजिक विकास आवश्यक है क्योंकि इसके बिना मानव जाति प्रगति नहीं कर सकती है। लेकिन यह सब कहने का क्या अर्थ है। व्यक्ति का बलिदान समष्टिवादी अहंकार की वेदी पर कर दिया जाना चाहिए। राजनीतिक विचार एक के बाद दूसरे भ्रामक सिद्धान्तों के

चक्कर में पड़ गया क्योंकि वह व्यक्ति और समाज में सामंजस्य स्थापित नहीं कर सका। ऐसा समय था जब इसको सुलझाया नहीं जा सकता था। किसी को यह नहीं मालूम था कि व्यक्ति कहां से आया, उसकी उत्पत्ति कैसे हुई और समाज कैसे विकसित हुआ। उस समय केवल अनुमान का सहारा लिया गया। लेकिन हमारे समय में हम लोग इस मामले में अन्धकार में नहीं हैं, कम से कम पहले जैसे अन्धकार में नहीं हैं। हम लोगों को आध्यात्मिक आधार पर राजनीतिक सिद्धान्तों को प्रतिपादित करने की आवश्यकता नहीं है। शरीर विज्ञान और प्राचीन मानव-शास्त्र के अध्ययन से मानव के विकास के सम्बन्ध में हमें पर्याप्त व्यावहारिक ज्ञान हो गया है। हम यह देखते हैं कि समाज मानवों द्वारा निर्मित है। व्यक्ति पहले आता है और वह समाज से पहले है। समाज के द्वारा वह अपना लक्ष्य प्राप्त करता है, उसका लक्ष्य स्वतंत्रता और व्यक्ति की प्रगति है लेकिन इस लक्ष्य को भुला दिया गया है। इसके प्रतिकूल मनुष्य को समाज में ऐसा स्थान दिया गया है जो उसके लक्ष्य और साधन के विरुद्ध है। नैतिकता को राजनीतिक व्यवहार और सामाजिक रचना से अलग कर दिया गया है। इसके परिणामस्वरूप वर्तमान संकट उत्पन्न हुआ है। जब तक हम इस संकट के मूल तक नहीं जाते हम उसको सुलझा नहीं सकते।

हमें मानव (व्यक्ति) से शुरूआत करनी पड़ेगी। इस सिद्धान्त का प्रचार वरिष्ठता की भावना से करना पड़ेगा कि व्यक्ति अमूर्त विचार है। जिस प्रकार भौतिक विज्ञान में यह मान लिया जाता है कि परमाणु के अमूर्त रूप का पता चला लिया गया है, उसी भांति व्यक्ति को समाज में अस्तित्वहीन परमाणु माना जायेगा। इस सिद्धान्त के प्रतिफल के आधार पर समाज की रचना होती है और कोई अति-मानवीय शक्ति उसका निर्माण करती है और उसकी स्थापना व्यक्ति नहीं करते हैं। लेकिन यह कौतूहलपूर्ण है कि समष्टिवादी लोग भी यह मानते हैं कि मानव स्वयं अपने संसार का निर्माता है। अतः अन्त में यह स्वीकार किया जाता है कि समाज की रचना मानव करता है। मानव ने समाज की रचना क्यों की? और कैसे की? अपने अस्तित्व के संघर्ष के दौरान व्यक्ति ने समाज की रचना की। शारीरिक विकास की इस तर्कसंगत पृष्ठभूमि में मानव प्राणियों ने अपने अस्तित्व की रक्षा का संघर्ष शुरू किया। समय के साथ व्यक्तियों ने यह अनुभव किया कि वे एक साथ होकर इस संघर्ष को अधिक सफलता के साथ चला सकते हैं। इस प्रकार समाज की उत्पति हुई।

अस्तित्व के उस संघर्ष का सारतत्व क्या था? यह हमारी स्वतन्त्रता की आकांक्षा थी। यदि हमारे पूर्वजों ने, आरम्भिक मानव प्राणियों

ने प्रकृति के वन्य जीवों के विरुद्ध संघर्ष न किया होता तो उस समय के पर्यावरण में वे नष्ट हो जाते। वह उन प्राकृतिक शक्तियों से अपने को मुक्त करना चाहते थे, जो उन्हें मार डालना चाहती थीं। स्वतन्त्रता की आकांक्षा, जो मनुष्यों की शारीरिक रक्षा के लिये किये गये संघर्ष से उत्पन्न हुई थी, मानव प्रगति को प्रोत्साहित करती है। स्वतंत्रता की इस आकांक्षा को धन्यवाद देना चाहिए कि उसके द्वारा आदिम मानव ने आदिम समाज की रचना की, जिसका लक्ष्य अस्तित्व के अपने संघर्ष को लक्ष्य प्राप्ति तक प्रभावशाली ढंग से और उच्च स्तर पर जारी रखना था। क्या यह कहना विवेकपूर्ण होगा कि मानव ने अपनी स्वतंत्रता अर्जित करने के लिए जिस अस्त्र का निर्माण किया वही स्वतंत्रता का नाश कर देगा? ऐसा होने पर मानव जाति का समस्त इतिहास अन्तर्विरोधो से भरा हुआ मालूम होगा। यह भी तथ्य है कि समाज ने मानवों को गुलाम बनाने के लिए जंजीरें तैयार की हैं। हमारे युग में मानव ने मशीन का निर्माण किया और उसका गुलाम बन गया। लेकिन स्वतंत्रता की आकांक्षा को नष्ट नहीं किया जा सका। युगों से मानव स्वतंत्रता के संघर्ष में लगा हुआ है और अब भी उसमें रत है। उसका लम्बा इतिहास हैं। यदि हम इस बात को समझ लें तो हम इतिहास को भी समझ सकते हैं।

इसीलिए हमारे दस्तावेज के मुख्य विचार में, जिसे हमने राजनीतिक दर्शन के रूप में प्रस्तुत किया है, शुरूआत इसी बात से होनी चाहिए कि मनुष्य समाज की रचना के पहले से है और स्वतन्त्रता का उपयोग मनुष्य ही कर सकता है। ऐसा राजनीतिक दर्शन, जो व्यक्ति की स्वतंत्रता को सुरक्षित नहीं कर सकता, उसमें उस अर्थ में स्वतंत्रता पर विचार नहीं हो सकता ओर उससे गलतफहमी ही उत्पन्न होगी।

अब अगला प्रश्न है कि समाज में व्यक्ति की स्वतंत्रता कैसे सम्भव होगी, जब समाज की रचना सामूहिक रूप से और केन्द्रित ढंग से मानी जाती है? न तो मुक्त व्यवसाय वाला पूंजीवाद और न ही संसदीय लोकतंत्र इस समस्या को सुलझा पाये हैं यद्यपि उदारवादियों ने व्यक्ति की स्वतन्त्रता के प्रश्न को उठाया था। समाजवाद और कम्युनिज्म भी इस लक्ष्य की ओर हमको नहीं ले जा पा रहे हैं। अतः अब इसके लिए क्या उपाय है? हमें इसके लिए समाज के राजनीतिक संगठन का नया विकल्प ढूंढ़ने का प्रयास करना चाहिए, जिसमें व्यक्ति की स्वतंत्रता और आर्थिक पुर्ननिर्माण में सामंजस्य स्थापित किया जा सके और उत्पादन के साधनों के निजी स्वामित्व वाली व्यवस्था को समाप्त किया जा सके।

दो वर्ष पूर्व रेडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी की ओर से देश के सामने स्वतंत्र भारत के संविधान का जो मसविदा रखा गया था, उसमें राज्य के ऐसे ढांचे की रूपरेखा प्रस्तुत की गयी थी। संगठित लोकतंत्र का वह मौलिक विचार था। संसदीय लोकतान्त्रिक व्यवस्था में मनुष्यों को परमाणुकृति व्यक्तियों के आधार पर संगठित किया जाता है। उसके अनुसार सार्वभौम सत्ता सम्पन्न व्यक्ति तीन या चार वर्ष में एक बार अपने मत (वोट) का प्रयोग करता है, लेकिन समाज के राजनीतिक संगठन में उसकी भूमिका इससे अधिक नहीं होती है। इसके परिणामस्वरूप अल्पसंख्यक लोगों के हाथों में सत्ता का केन्द्रीयकरण हो जाता है और व्यवहारिक रूप में स्वतंत्रता का निषेध हो जाता है। इस दिखावटी लोकतंत्र के प्रतिवादी रूप का उल्लेख मार्क्सवाद के राजनीतिक दर्शन और व्यवहार में मिलता है। मार्क्सवाद में लोकतंत्र के उच्च स्तर को लाने के बीच के संक्रमण काल के लिए सर्वहारा की तानाशाही को लोकतंत्र के उच्च स्तर को स्थापित करने के बीच के संक्रमणकाल के लिए आवश्यक माना जाता है। वह लोकतंत्र का स्तर—उच्चतर कैसे होगा? वह संसदीय लोकतंत्र से भिन्न होगा, लेकिन वह उससे कितना ऊंचा होगा? संसदीय लोकतंत्र में सत्ता नाम के सभी अधिकार उससे छीन लिए जाते हैं और संसदीय लोकतंत्र में व्यक्ति असहाय हो जाता है। समाजवाद में लोकतंत्र को ऊंचे स्तर पर स्थापित किया जायेगा जिसमें यह व्यवस्था की जायेगी कि पिछली बुराइयों को हटाया जा सके। लेकिन यदि समाजवाद का सम्बन्ध समाज के ऐसे रूप से जोड़ा जाय जिसमें व्यक्तिगत स्वतंत्रता असम्भव हो तो वह संसदीय लोकतंत्र से अच्छा समाज नहीं हो सकेगा।

तो क्या हम यह नतीजा निकालें कि लोकतन्त्र असम्भव है और यह घोषणा करें कि मानव जाति का पिछले तीन सौ अथवा चार सौ वर्षों का इतिहास गलत था। इस प्रकार की प्रतिक्रिया का प्रतिनिधित्व फासिज्म करता है। फासिज्म की ओर से यह घोषणा की गयी कि लोकतंत्र अच्छी व्यवस्था नहीं है और उसके विकल्प के रूप में तानाशाही व्यवस्था को प्रस्तुत किया गया। तो फिर फासिज्म और कम्युनिज्म में क्या अन्तर है?

ऊपरी तौर से फासिस्टवादी तानाशाही कम्युनिस्ट तानाशाही की अपेक्षा अधिक लोकतांत्रिक दिखाई देगी क्योंकि उसका समष्टिगत अहंकार समस्त राष्ट्र के आधार पर स्थिर किया जाता है। स्पष्ट है कि यदि राष्ट्र की कल्पना लोकतांत्रिक है तो फिर राष्ट्रीय तानाशाही होने की क्या आवश्यकता पड़ेगी। राष्ट्र को अपने आप पर तानाशाही करने की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए। जो भी हो तथ्य यह है कि फासिज्म राष्ट्रवाद का उग्र-

तम रूप है और वह तानाशाही राज्य की स्थापना करता है जिसका दावा है कि उसमें राष्ट्र के समष्टिगत अहंकार निहित है। फिर भी फासिज्म पूरे राष्ट्र का प्रतिनिधि होने का दावेदार है अतः वह सर्वहारा की तानाशाही की अपेक्षा लोकतंत्र का ऊंचा रूप है क्योंकि सर्वहारा की तानाशाही तो एक वर्ग के प्रतिनिधित्व का दावा कर सकती है। इस दिखावटी विशिष्टता के आधार पर जब फासिस्टों ने संसदीय लोकतान्त्रिक व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह किया था उस समय जनता के बहुत बड़े हिस्से को उसने कम्युनिस्टों के मुकाबले में थोड़े समय के भीतर प्रभावित कर दिया था।

यह एक बड़ा दुखान्त तथ्य है जिस पर उन लोगों को विचार करना चाहिए जो हमारे समय के संकट को सुलझाना चाहते हैं। अपनी आंखें बन्द कर लेने से काम नहीं चलेगा। कम्युनिस्ट घोषणा-पत्र करीब एक सौ वर्ष पूर्व जारी किया गया था और करीब पिचहत्तर वर्ष बाद उसके आधार पर क्रान्ति सफल हुई। उस क्रान्ति की प्रतिक्रिया के रूप में फासिज्म उभरा और दस वर्ष के भीतर वह पूरे यूरोप में फैल गया। लोग फासिस्टों के अनुयायी बने, लेकिन कम्युनिस्टों के नहीं बने। यह तथ्य है जिन्हें यह कहकर टाला नहीं जा सकता कि सोशल डेमोक्रेट लोग गद्दार और विश्वासघाती थे अथवा और कुछ ऐसा ही कहा जाय। लेकिन इन घटनाओं पर हमें विचार करना चाहिए और यदि हम विचार करते हैं तो हमें यह भी समझना चाहिए कि संसदीय लोकतांत्रिक व्यवस्था ही असफल नहीं हुई वरन् मार्क्सवाद के आधार पर लोकतंत्र भी खतरनाक रूप से गलत था। यही कारण है कि वह जनता को पर्याप्त रूप से प्रभावित नहीं कर सका।

हमारे समय में राजनीतिक सिद्धान्त आध्यात्मिक मान्यताओं के आधार पर प्रतिपादित नहीं किये जा सकते। उन्हें वैज्ञानिक ज्ञान और वैज्ञानिक दर्शन के आधार पर प्रतिपादित किया जाना चाहिए। हमारे इन सिद्धान्तों में उसी दिशा में प्रयास किया गया है। इस सिद्धान्त को मानने से कि इतिहास आर्थिक ढंग से निश्चित होता है, व्यक्ति एक कल्पना की वस्तु मात्र रह जाता है। इतिहास के निश्चयवाद के इस अजीबो-गरीब सिद्धान्त को भौतिकवादी दर्शन से निकला हुआ माना जाता है। यदि हर बात आर्थिक ढंग से निश्चित होती है तो फिर आप क्रान्ति कैसे कर सकते हैं? घटना एक के बाद एक होती रहेगी और मानव को उनके लिए कुछ भी करने की जरूरत नहीं है। व्यक्ति आर्थिक भाग्य के हाथ में कठपुतली मात्र रह जाता है, लेकिन क्रान्ति के विचार में व्यक्ति की सार्वभौम सत्ता की भावना निहित मानी जाती है। पूंजीवाद का पतन होता है और उसके स्थान पर समाजवाद विकसित होता

है। यह कैसे होता है, इसकी व्याख्या आर्थिक निश्चयवाद के सिद्धान्त से करना कठिन काम है। यही कारण है कि मार्क्स ने इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या की और क्रान्ति को सम्भव बनाने के लिए उसे आर्थिक निश्चयवाद के सिद्धान्त से हटना पड़ा। उसने यह स्वीकार किया कि इतिहास की प्रक्रिया में मानव की सार्वभौमसत्ता की भावना मुख्य कारक है। उसने कहा कि पूंजीवाद का पतन हो सकता है, लेकिन जब तक सर्वहारा विद्रोह करके पूंजीवाद को सत्ता से च्युत नहीं करेगा तब तक पूंजीवाद हमेशा के लिए बना रहेगा।

इस प्रकार यह पुनः सिद्ध होता है कि मानव समाज का निर्माता है। लेकिन मानव कब तक एक प्रकार के समाज की रचना करके दूसरे प्रकार के समाज की रचना के लिए पहले समाज को गिराने की प्रक्रिया चालू रखेगा? इस शाश्वत समस्या को सुलझाने के लिए हमें समाज को आर्थिक निश्चयवाद के आधार पर बनाने के सिद्धान्त के अतिरिक्त उन अन्य बातों को समझाना पड़ेगा जिनका प्रभाव समाज की रचना पर पड़ता है। इसके लिए हमें दार्शनिक आधार को देखना पड़ेगा, सामाजिक और राजनीतिक आधार को देखना पड़ेगा। सामाजिक और राजनीतिक समस्याओं को सुलझाने के प्रयास में हमें मौलिक दार्शनिक प्रश्नों पर विचार करना पड़ेगा। हमें भौतिकवाद और आदर्शवाद के विवाद को खत्म करना पड़ेगा।

जैसे ही इस बात को स्वीकार किया जाता है कि मानव समाज की रचना है, आदर्शवाद का सवाल हमारे सामने आ जाता है—उस आदर्शवाद का नहीं जो विचारों की स्वतंत्र भूमिका को स्वीकार करता है। मानव ने किस प्रकार समाज रचना की। मानव में क्रान्ति करने और संसार को बदलने का विचार कैसे पैदा होता है? इन प्रश्नों का उत्तर देने के लिए हमें विचारों की गतिशीलता से उसके सम्बन्धों को ढूंढ़ना पड़ेगा। मानव के विचार मानव की विचार प्रक्रिया हैं, उसका इतिहास से सम्बन्ध है। मानव का मस्तिष्क उत्पादन का साधन है, उससे विचार उत्पन्न होते हैं जो सबसे अधिक मूर्ति भंजक वस्तु है जब तक हम सामाजिक विकास की प्रक्रिया में विचारों के महत्व को अस्वीकार करते रहेंगे तो हम धर्मशास्त्र में पड़ जायेंगे। पूरी तरह से आर्थिक निश्चयवाद को मानने से पूर्व निर्धारित भाग्यवाद में हम पहुंच जायेंगे। बनार्ड शॉ ने एक बार कहा था कि आर्थिक निश्चयवाद ईश्वरीय इच्छा का दूसरा नाम है। यदि एक बार हम उसकी ढलान पर खड़े होंगे तो हमें स्वतंतत्रता से विदाई लेनी पड़ेगी, सामूहिक और व्यक्तिगत दोनों रूपों से। इसी आधार पर यह मानना पड़ेगा कि घटना क्रम भी पूर्व निर्धारित

होता है चाहे वह ईश्वरीय इच्छा के आधार से हो अथवा आर्थिक निश्चयवाद के नियमों के आधार पर। दोनों ही स्थितियों में मनुष्य का उन पर नियंत्रण नहीं रहता है और वह उन्हें बदल नहीं सकता है। मानव के अस्तित्व का संघर्ष इस दशा में सफल नहीं हो सकता और इसके बाद मानव का जीवन इस संसार में सबसे बड़ी दुखान्त घटना होगी।

इस दुश्चक्र को हम तब तोड़ते हैं जब हम यह मौलिक प्रश्न उठाते हैं : उत्पादन के साधन की मूल उत्पत्ति कैसे हुई और उसको किसने उत्पन्न किया ? उत्पादन के प्रथम साधन के सम्बन्ध में यह सोचा जा सकता है कि जब (ऐप) बन्दर ने पेड़ की एक डाल तोड़ कर उसकी सहायता से हाथ में न पहुंचने वाले फल को तोड़ा और उसके लिए उसे पेड़ पर नहीं चढ़ना पड़ा। अस्तित्व के संघर्ष में यह एक सबसे बड़ी घटना थी। इस प्रकार पहले उत्पादन के साधन को उत्पन्न किया गया। लेकिन ऐसा करने के पहले उसका विचार बन्दर के मस्तिष्क में उत्पन्न हुआ जो उसे अपनी बाहों को लम्बा करने की आकांक्षा से विकसित हुआ। इस प्रक्रिया में लाखों वर्ष लगे होंगे। लेकिन वह कार्य सामाजिक संसार की रचना का पहला काम था। उसके द्वारा पहला उत्पादन का साधन बना। उसकी उत्पत्ति अति-मानवीय शक्ति से नहीं हुई और न ही उसकी उत्पत्ति आर्थिक निश्चयवाद के सिद्धान्त से हुई। मानव के क्रियाकलाप की उत्पत्ति और सामाजिक जीवन के आरम्भ को आर्थिक निश्चयवाद की परिधि से बाहर रखने से इनकी उत्पत्ति के लिए अति-प्राकृतिक और आध्यात्मिक विचारों को प्राथमिकता नहीं दी गयी है। ऐसा करके भौतिकवादी योजना को कट्टरवाद से मुक्त किया गया है। विचारों की उत्पत्ति की वैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत की गयी है और यह सिद्ध किया गया है कि किस प्रकार मानव के विकास के पहले शारीरिक प्रवृत्तियों से विचार उत्पन्न होते हैं। विचारों को भौतिकवादी योजना में उचित स्थान दिया गया है और एक ऐसे दर्शन को विकसित किया गया है जो स्वत: आगे बढ़ता है। इसके साथ ही आर्थिक निश्चयवाद को एकदम अस्वीकार नहीं किया गया है। समाज की रचना के बाद उसका क्रियाकलाप शुरू होता है। समाज की उत्पत्ति कैसे हुई, इस बात की व्याख्या, सामाजिक विकास के नियमों के बनने से पहले से करनी चाहिए। पृथ्वी पर प्रकट होने के समय मानव आर्थिक प्राणी नहीं था और आज भी 'आर्थिक-मानव' एक कल्पना है। मानव प्राणी की उत्पत्ति भौतिक कारणों से निश्चित हुई थी। आर्थिक निश्चयवाद को भौतिक निश्चयवाद नहीं समझना चाहिए। एक (भौतिक निश्चयवाद) समस्त विश्व में अनन्त काल से चल रहा है लेकिन दूसरा

(आर्थिक निश्चयवाद) केवल सामाजिक मानव के संसार में लागू होता है और उस क्षेत्र में भी अन्य बातों का महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। हम आर्थिक निश्चयवाद को भाग्यवादी निश्चयवाद से मुक्त करना चाहते हैं और उसे भी भौतिक निश्चयवाद की योजना का अंग बनाना चाहते हैं।

मानव के पुरखों ने अपने अस्तित्व के संघर्ष के क्रम में सबसे पहले बिना अवयववाला और गैर-शरीरी उत्पादन के साधन की रचना की। उसकी यह क्रिया मानव के शारीरिक विकास की मौलिक सहज इच्छा से सम्बद्ध थी। शारीरिक विकास में मस्तिष्क का विकास उसके पहले की घटना थी जो आकस्मिक नहीं थी वरन् जो शारीरिक विकास प्रक्रिया के अन्तर्गत थी। गैर शरीरी प्रथम उत्पादन का साधन ऐसे पशु ने बनाया था जिसका मस्तिष्क विकसित हो चुका था और उसमें विचार शक्ति उत्पन्न हो चुकी थी। प्रथम उत्पादन के साधन के निर्माण के पूर्व उसका विचार मस्तिष्क में उत्पन्न हुआ था। जिस प्रकार आर्थिक निश्चयवाद के उद्गम स्थल को आर्थिक जीवन आरम्भ होने के बाद ही देखा जा सकता है उसी प्रकार विचार प्रक्रिया आरम्भ होने के बाद ही विचार शृंखला का आरम्भ होता है। निस्सन्देह मानव के पूर्वज के मस्तिष्क में उत्पन्न विचार से इस प्रक्रिया का आरम्भ होता है।

हमने मानव के शारीरिक विकास की पृष्ठभूमि में विचार की उत्पत्ति को ढूंढ़ा है। शारीरिक विकास भौतिक प्रकृति की पृष्ठभूमि में होता है। इस प्रकार हमारे विचार, जिनके आधार पर उनके सार्वभौम सत्ता की भूमिका तैयार होती है उनके द्वारा इतिहास की व्याख्या हम कर सकते हैं और उसके लिए भाग्यवाद का सहारा लेने की जरूरत नहीं पड़ेगी। ऐसा करने से हमें भौतिकवाद को छोड़ने और आध्यात्मिक आदर्शवादी दलदल में गिरने की जरूरत नहीं है। इसके विपरीत ऐसा करके हम दर्शन की एक भयंकर समस्या को—द्वैतवाद की समस्या को सुलझा लेते हैं। जीव-जगत और जड़-जगत में कोई विरोध नहीं है। हम प्रत्येक वस्तु के लिए एक समान पृष्ठभूमि पर आ जाते हैं।

रेडिकलवाद के सिद्धान्त का यह दार्शनिक आधार है। यह स्मरणीय है कि मानव इतिहास का भौतिक आधार है लेकिन इसका एक ही कारण नहीं है। विचार और आर्थिक शक्तियां दोनों का ही प्रभाव पड़ता है। विचारों की गतिशीलता और आर्थिक विकास का द्वन्द्वात्मक रूप दोनों की समानान्तर प्रक्रिया साथ-साथ चलती है। दोनों का विकास मानव की स्वतंत्रता की आकांक्षा से होता है। दोनों प्रक्रियाएं भी एक दूसरे को प्रभा-

वित करती हैं। जब हम सामाजिक सिद्धान्त और एक राजनीतिक दर्शन का प्रतिपादन करते हैं तो हमें दोनों प्रकार की प्रक्रियाओं के समान स्रोत को समझना चाहिए और उनके आधार पर सार्वभौम सत्ता सम्पन्न व्यक्तियों के समाज की पुनः रचना कर सकते हैं। यदि मानव को केवल परमाणु रूप में रोबोट अथवा मशीन के पुर्जे के रूप में स्वीकार करेंगे तो समाज के पुनर्निर्माण का उद्देश्य ही विफल हो जायेगा। स्वतंत्र व्यक्तियों का समाज बनाने के स्थान पर हम एक ऐसे कारागार की स्थापना करेंगे जिसमें कुछ अधिक सुविधाएं प्रदान की जायेंगी, लेकिन उनमें रहने वाले व्यक्तियों की आत्मा और उनकी स्वतंत्रता की आकांक्षा को नष्ट कर देंगे। इस प्रकार मानवों की स्थिति खिला-पिला कर मोटे बनाये गये सुअरों की सी हो जायेगी। निस्सन्देह यह सही है कि यदि मशीन के प्रत्येक चक्र को अपने ढंग से चलने की आजादी हो तो मशीन टूट जायेगी। इस द्विविधा को दूर करने का रास्ता है। हमें मानव को समाज की धुरी मानना चाहिए। हमें यह जानना चाहिए कि समस्त सामाजिक ढांचों को विकसित करने की क्षमता मानव प्राणी में निहित है। इसके बाद यह स्पष्ट हो जायेगा कि समाज में मानव का स्थान केवल मशीन के पुर्जे के समान नहीं है और वह अपने सामाजिक उत्तरदायित्व का निर्वाह अपनी व्यक्तिगत स्वतंत्रता का आत्मसमर्पण किये बिना कर सकता है। स्वतन्त्र समाज में स्वतंत्र व्यक्ति रह सकते हैं और बिना स्वतंत्रता के और सब बातें करना एक धोखा है। आज के अति-जटिल सामाजिक संगठन में मानव अपना स्थान ग्रहण कर सकता है। ऐसा समाज केन्द्रित होगा लेकिन मानव सार्वभौम सत्ता सम्पन्न व्यक्ति के रूप में समाज में सामूहिक प्रयासों से अपनी क्षमताओं को प्रकट करने की स्थिति में होगा। समाज की स्थापना की आकांक्षा का आधार व्यक्ति की स्वतंत्रता की आकांक्षा है, जो अपने शारीरिक विकास के रूप में मानव के रूप में प्रकट होता है। ऐसी स्थिति में सामाजिक उत्तरदायित्व की भावना से काम करना अनिवार्य नहीं होगा। सामान्य परिस्थितियों में वह स्वेच्छा से अपने उत्तर-दायित्व को पूरा करेगा क्योंकि समाज की रक्षा और उसके विकास के द्वारा उसके प्रत्येक सदस्य को अपनी क्षमताओं को विकसित करने का अवसर प्राप्त होगा। अतः व्यक्तिगत स्वतंत्रता और सामाजिक उत्तरदायित्व दोनों एक दूसरे के लिए असंगत नहीं हैं।

एक बार यदि हम दार्शनिक निष्कर्ष पर पहुंच जाते हैं तो ऐसे राजनीतिक सिद्धान्त को स्थिर किया जा सकता है जिसके द्वारा संसदीय लोकतांत्रिक व्यवस्था को अस्वीकार करके उसके स्थान पर तानाशाही वाली

पद्धति को प्रयोग में लाने के अपने खतरे हैं। इसका विकल्प तो संगठित लोकतंत्र ही हो सकता है। व्यक्ति को अकेले नहीं छोड़ा जाना चाहिए। उसे समाज के आर्थिक अथवा राजनीतिक परमाणु व्यक्ति के रूप में स्वीकार नहीं किया जाना चाहिए। इसीलिए हम ऐसी वास्तविक लोकतांत्रिक व्यवस्था का प्रस्ताव कर रहे हैं जिसमें व्यक्ति असहाय इकाई न रह जाय वरन् छोटे-छोटे समूहों में—जन समितियों के रूप में उसे संगठित किया जा सके। इस प्रकार की जनसमितियां, राज्य के छोटे आकार की प्रतिमूर्तियां होंगी। छोटी होने के कारण इन समितियों में व्यक्ति का दमन नहीं किया जा सकेगा। इसके अतिरिक्त वह छोटी ससृष्ट-सामाजिक इकाई होगी और उसमें व्यक्ति को अपनी क्षमताओं के विकास की अधिक स्वतंत्रता होगी। इस प्रकार की इकाइयों के विस्तृत आधार पर राज्य का 'पिरामिड' बनेगा। मुझे आशा है कि आप लोगों ने स्वतंत्र भारत के संविधान का हमारा मसविदा पढ़ा होगा। यदि नहीं तो उसे अब पढ़ लेना चाहिए। क्योंकि उसकी पृष्ठभूमि में हमारे सिद्धान्तों को भली प्रकार समझा जा सकता है।

रेडिकल लोकतंत्र का दूसरा महत्वपूर्ण लक्षण यह है कि उसमें इस बात पर जोर दिया जाता है कि सत्ता को जनता में निहित रखा जाय। राज्यतंत्र इस प्रकार का बनाया जाय जिसमें स्थानीय समितियों के द्वारा शासन चलाया जाय, जिससे दैनिक कार्यों में सार्वभौम सत्ता का उनके द्वारा उपयोग किया जा सके। सत्ता को हस्तांतरित अथवा अधिकारों को प्रदत्त करने की पद्धति नहीं अपनायी जायेगी क्योंकि उससे लोकतांत्रिक निषेध होता है। हमारी पद्धति को कैसे कार्यान्वित किया जायेगा, उसका अनुमान अभी नहीं लगाया जा सकता। राष्ट्रवादियों का दावा है कि संविधान सभा में पंडित नेहरू ने लक्ष्य सम्बन्धी जो प्रस्ताव पेश किया है वह सबसे अच्छा है। उसमें भारत को स्वतंत्र सार्वभौम सत्ता सम्पन्न गणतंत्र घोषित किया गया है। यदि उसकी भाषा को ध्यान से पढ़ा जाय तो उस घोषणा का खोखलापन प्रकट होता है और उसके खतरों का पता चलता है। लोकतंत्र का मौलिक सिद्धान्त यह है कि उसमें सत्ता जनता की होती है। हमारी संविधान सभा ने यह घोषणा की है कि उसने सत्ता जनता से प्राप्त की है। यह मान्य सिद्धान्त से अलग हटने के समान है। राष्ट्रवादी भारत के स्वतंत्र सार्वभौम सत्ता सम्पन्न गणतंत्र में सत्ता को स्थायी रूप से प्रदत्त रखा जायेगा। राज्य जनता से सार्वभौम सत्ता ग्रहण करता है। संविधान में यह भावना व्यक्त की गई है कि सार्वभौम सत्ता जनता में निहित नहीं है वरन् उसे समय-समय पर ग्रहण करके राज्य के प्रशासकों को सौंप दिया जायेगा। राज्य केवल सत्ता

ग्रहण करता है, उसे जनता स्वयं प्रदान नहीं करती है। स्वेच्छा से सत्ता हस्तांतरित करने की बात का सामान्यतया अभाव होता है अतः भविष्य में संविधान की व्याख्या करने वाले विधिवेत्ता यह तर्क प्रस्तुत करेंगे कि सार्वभौम सत्ता जनता के पास कभी नहीं थी। जहां से उसे प्राप्त किया जाता है अथवा उद्गम स्थल को सत्ता का स्वामी नहीं माना जा सकता। स्वामित्व का अधिकार सिद्ध करने के लिए व्यवहार में स्वामी का सत्ता पर अधिकार होना चाहिए। भारत में राज्य सार्वभौम सत्ता सम्पन्न अधिकार जनता से प्राप्त करता है लेकिन जनता उसको प्रदान नहीं करती है। इस प्रकार सार्वभौम सत्ता पर जनता का कभी अधिकार नहीं रहता है। प्रदत्त अधिकारों की सामान्य विधि के अनुसार जनता से यह अधिकार प्राप्त करने के बाद जनता व्यवहार में उनसे वंचित हो जाती है। लेकिन उसके तर्कसंगत आधार पर सार्वभौम सत्ता जनता की होती है और जनता उसे प्रदान कर सकती है और प्रदान नहीं भी कर सकती है। अधिकार प्रदान करने के बाद भी जनता को यह अधिकार है कि वह अपने अधिकार को अक्षुण्य रखने के लिए विद्रोह कर दे। इसीलिए विद्रोह के अधिकार को लोकतांत्रिक अधिकार घोषित किया जाता है। परम्परागत लोकतांत्रिक सिद्धान्तों से हट कर भी यही कहा जायेगा कि सार्वभौम सत्ता जनता की होती है और स्वतंत्र भारत के संविधान के अनुसार शासन जनता से अधिकार प्राप्त कर लेगा और उसके बाद उसका विद्रोह का अधिकार समाप्त हो जायेगा। ऐसा होने पर तानाशाही को वैधता मिल जायेगी क्योंकि जनता से सार्वभौम अधिकार एक बार ले लेने के बाद वह उनसे सदैव के लिए वंचित हो जायेगी। इस बात को भुला दिया जायेगा कि जनता राष्ट्रीय राज्य के अधिकार का स्रोत है।

रेडिकल लोकतंत्र में जनता को सार्वभौम सत्ता न कभी हस्तांतरित की जायेगी और न उसको प्रदत्त अधिकारों के रूप में उन्हें अलग किया जायेगा। सार्वभौम सत्ता का अधिकार जनता में निहित रहेगा और जनता के हाथ में ही रहेगा। जनता के इस अधिकार को अल्पसंख्यक लोगों के हाथ में सौंप देना जनता द्वारा सत्ता के परित्याग के समान होगा। जब सत्ता अल्पसंख्यक लोगों के हाथ में पहुंच जाती है वह उस सत्ता को अपने हाथ में रखने के लिए शासनतंत्र बनाते हैं और उस शासनतंत्र के द्वारा सत्ता पर अपना नियंत्रण रखते हैं। ऐसा समय था जब सत्ता का अधिग्रहण करने वालों को सशस्त्र क्रान्ति के द्वारा हटाया जा सकता था। जैसा कि फ्रांसीसी राज्य क्रान्ति और दुबारा रूसी क्रान्ति के द्वारा हुआ था। लेकिन उसके बाद सत्तासीन अल्पसंख्यक लोगों ने जनता के नाम पर सत्ता पर अधिकार करने

की घोषणा करके इतनी शक्ति अर्जित कर ली है कि जनता विद्रोह करके उनको अपदस्थ नहीं कर पाती है। रूसी क्रान्ति के बाद इतिहास का यह दूसरा अनुभव हमें हुआ है। हम उस तथ्य को स्वीकार करते हैं। यदि हम क्रान्ति के सिद्धान्त को यथार्थवादी बनाना चाहते हैं तो हमें राजनीतिक व्यवहार का व्यावहारिक कार्यक्रम तैयार करना चाहिए। यदि क्रान्ति का नया रास्ता नहीं है तो क्या हमें स्वतंत्रता के आदर्श को छोड़ देना चाहिए और क्या जनता स्वतंत्र नहीं हो सकेगी और क्या लोकतंत्र सम्भव नहीं होगा।

हमें निराशाजनक दृष्टिकोण नहीं अपनाना चाहिए। हम यह कहते हैं कि लोकतंत्र सम्भव है और स्वतंत्रता का लक्ष्य ऐसा नहीं है जिसे प्राप्त न किया जा सके यदि लोकतंत्र में विश्वास करने वाले, स्वतंत्रता के लिए संघर्ष करने वाले क्रान्तिकारी किसी एक वर्ग के लिए नहीं वरन् पूरी जनता के लिए सत्ता पर अधिकार करने के लिए सशस्त्र विद्रोह द्वारा प्रयास करें और ऐसी तानाशाही स्थापित करें जिसका उद्देश्य सभी अन्य लोगों का दमन करना हो जिसमें उसमें शामिल व्यक्तियों की स्वतंत्रता भी नष्ट हो जाय। यह उचित नहीं होगा। सभी विचारशील व्यक्ति, चाहे वे किसी वर्ग के क्यों न हों वे मानव की स्वतंत्रता के आदर्श के लिए एक साथ आ सकते हैं। हमें केवल आर्थिक निश्चयवाद के सीमित रूप को पहचान लेना चाहिए, विशेष रूप से बुद्धिमान और विवेकशील व्यक्ति मानवीय गुणों के प्रति सचेत हो। स्वतंत्रता को व्यक्ति की स्वतंत्रता से अलग करके समझा नहीं जा सकता है।

हम लोग इस देश में साम्राज्यवादी शोषण और दमन की बातें करते रहे हैं। हमारे देश में ऐसी बहुत सी बातें हैं जो अच्छी नहीं हैं। लेकिन संसार के दूसरे देशों की ओर भी देखिए। आपको बहुत से ऐसे देश मिलेंगे जहां भारत की तुलना में स्वतंत्रता कम है। जापान एक स्वतंत्र राष्ट्र था लेकिन जापान की जनता स्वतंत्र नहीं है। ऐसा भारत में भी हो सकता है। स्वतंत्रता के लिए खतरा दूसरी ओर से आ सकता है। यह तर्क के आधार पर सम्भव है और अनुभव से भी यह सिद्ध किया जा सकता है कि सर्वहारा सत्ता पर किसी देश में अधिकार कर सकता है, फिर भी यह जरूरी नहीं कि सर्वहारा स्वतंत्र हो जाय, पूरे देश की स्वतंत्रता की तो बात ही अलग है। जब सर्वहारा सत्ता पर अधिकार करता है और उसकी तानाशाही स्थापित हो जाती है तो वर्ग अपने अधिकारों को संगठित और इच्छा शक्ति वाले अल्पसंख्यकों को जो अपने को पार्टी कहते हैं, उनको सौंप देता है। वर्ग के नाम पर पार्टी नये शासक बन जाती है और सर्वहारा राज्य भी निहित स्वार्थी तत्वों के हाथ में

चला जाता है। इसी करण राज्य का उस तरह तिरोहरण नहीं होता जैसा सर्वहारा क्रान्ति के सिद्धान्त में बताया जाता है। और वह राज्य तानाशाही राज्य होता है और उसके द्वारा अल्पसंख्यक पार्टी का राज्य स्थायी हो जाता है।

ऐसी क्रान्ति जो अपना लक्ष्य ही असफल कर दे, चाहे वह वैसा बिना जाने करे लेकिन गलत राजनीतिक सिद्धान्त की वही तर्क संगत परिणति होती है, अतः उसे टालने के लिए हम ऐसे राजनीतिक व्यवहार का प्रस्ताव करते हैं जिसमें इस बात पर जोर दिया जाय कि व्यक्ति की स्वतंत्रता को अक्षुण्ण रखा जा सके। इस स्थिति में यह प्रश्न उठता है कि स्वतंत्रता क्या है? हम इस प्रश्न को टालने के लिए क्षमायाचना नहीं करेंगे। स्वतंत्रता को सारमूलक अर्थ दिया जाना चाहिए उसमें प्रत्येक मानव प्राणी के अनुभव के आधार पर उसकी भावना होनी चाहिए। मार्क्सवाद के पहले के राजनीतिक दार्शनिकों, उदारवादियों ने, जो व्यक्तिवाद में विश्वास रखते थे, उन्होंने स्वतंत्रता के विचार का परिमाण बताने का प्रयत्न किया था। इसीलिए आज के समष्टि-वादी उसे अमूर्त बताकर अस्वीकार कर देते हैं।

हम स्वतंत्रता की कल्पना को सारभूत परिमाण देना चाहते हैं। स्वतंत्रता के सारभूत अर्थ को हम समस्त शारीरिक विकास की प्रक्रिया से प्राप्त करते हैं स्वतंत्रता का संघर्ष अस्तित्व के लिए शारीरिक संघर्ष के क्रम से जोड़ा जा सकता है। इस संघर्ष के द्वारा बुद्धि और भावना को उच्च स्तर प्राप्त होता है। दूसरे शब्दों में स्वतन्त्रता का अर्थ है कि मानव की क्षमताओं पर लगे सभी प्रतिबन्धों को धीरे-धीरे समाप्त करना। अन्यथा वे सभी घोषणाएं जो इतिहास के संकट के दिनों में की गयीं कि मानव जन्म से स्वतन्त्र है, स्वतन्त्रता हमारा जन्म सिद्ध अधिकार है, ये सभी महज तुच्छता मानी जायेंगी। जब तक यह न समझ लिया जाय, उसे केवल मामूली सिद्धान्त न माना जाय वरन् वैज्ञानिक ज्ञान के आधार पर देखा जाय कि मानव में विकास की अनन्त सम्भावनाएं निहित हैं और स्वतंत्रता का आदर्श उनको प्राप्त करना है। एक बार इसको स्वीकार कर लिया जाय तो हमें स्वतन्त्रता का मानदण्ड मिल जाता है। समाज की स्वतंत्रता का नाप इन्हीं बातों से हो सकता है कि उसके अन्तर्गत व्यक्ति को किस सीमा तक अपनी क्षमताओं को विकसित करने का अवसर उपलब्ध कराया जा सकता है। ऐसे देश हैं जो शक्तिशाली हैं और स्वतंत्र हैं लेकिन उनके निवासी जंजीरों में जकड़े हुए हैं चाहे वह जंजीरें सोने की ही क्यों न हों। अतः मानव जाति झूठे आदर्शों के दलदल में न फंसी रहे, हमें प्रगति

के मानदण्ड स्थिर करने चाहिए। यदि किसी विशेष समाजिक संगठन में मानव की स्थिति पहले से अच्छी नहीं है तो यह कैसे कहा जायेगा कि बीसवीं शताब्दी में प्रगति हुई है जो उन्नीसवीं शताब्दी में नहीं थी। प्रगति समय के कालक्रम में बाद का आना ही नहीं है। हम समय के परिवर्तन के साथ प्रगति को एक ही मानदण्ड से जांच सकते हैं—कि व्यक्ति की उसमें स्थिति क्या है। उसमें व्यक्ति को—पुरुष अथवा स्त्री को—अपनी क्षमताओं को विकसिक करने के कितने अवसर उपलब्ध हैं जिससे कि पहले से अच्छे, अधिक विकसित और अधिक अच्छे मानव प्राणी बन सकें और स्वतंत्रता की आकांक्षा और सत्य की खोज की दिशा में उन्होंने कितनी प्रगति की है। इस मानदण्ड से ही हम यह जान सकते हैं कि हमने भूतकाल से कितनी प्रगति की है और भविष्य जो अंधकारमय ओर निराशाजनक लगता है उसमें मानव प्रगति के नष्ट होने का क्या खतरा है।

जब हम यह मांग करते हैं कि प्रत्येक वस्तु का मानदण्ड मानव होना चाहिए, तो कोई नई बात नहीं कहते हैं। दर्शन के एक प्रमुख संस्थापक प्रोटागोरस ने ढाई हजार वर्ष पहले यही बात कही थी। फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि मानव जाति अपनी आत्मा को भूल गयी है। कार्ल मार्क्स ने कुछ मुक्ति दिलाने वाले सिद्धान्तों का फिर से प्रतिपादन किया, जिन्हें लोग सर्व-हारा की तानाशाही के मसीहा के रूप में आदर देते हैं। सर्वहारा की ताना-शाही के समर्थक काल्पनिक समष्टिवादी अहंकार की बलिवेदी पर व्यक्ति का बलिदान करने की मांग करते हैं। कार्ल मार्क्स ने कहा था 'मानव, मानव जाति का मूल है।' यह बात प्रोटागोरस के कथन से अधिक स्पष्ट थी। प्रोटागोरस का कहना था कि सभी मूल्यों का आधार मानव है। कार्ल मार्क्स ने उस पुराने दार्शनिक के कथन में उन्नति की क्योंकि कार्ल मार्क्स के समय में उसके पास अधिक वैज्ञानिक ज्ञान था। इस सिद्धान्त का अर्थ क्या है? पहले आदमी आता है और उसके बाद मानव जाति अथवा मानव समाज। व्यक्ति समाज से पहले है जिसका अर्थ है कि मानव के विकास के पूर्व शारीरिक विकास की जो प्रक्रिया शुरू हुई थी उसी क्रम में मानव की क्षमताओं के प्रकट होने की प्रक्रिया चलती रहती है। साधन के लिए साध्य का बलिदान नहीं करना चाहिए। इसी आधार पर हम कहते हैं कि मानव सभी सामाजिक प्रगति का मानदण्ड है। मार्क्सवाद के दर्शन का भी यही सार तत्व है। इसकी समष्टि-वादी व्याख्या से अधिनायकवादी रूप प्रकट होता है।

लेकिन हम स्वप्नलोक की रचना नहीं करना चाहते हैं। हमारे कहने का इतना ही तात्पर्य है कि एक क्रान्ति के बाद मानव को पहले की अपेक्षा

कई गुना अधिक स्वतंत्रता मिलनी चाहिए और बाद की क्रान्ति के बाद उसे उससे भी अधिक स्वतंत्रता मिले और उसकी स्थिति में अधिक सुधार हो। अन्यथा स्वतंत्रता की बात एक अध्यात्मिक कल्पना मात्र रह जाती है। व्यक्तिगत स्वतंत्रता, जो प्रगति का आधार है उसके अनादर के कारण कुछ सनकी विचारक प्रगति के विचार की निन्दा करने लगे हैं। वे लोग यह कहते हैं कि इतिहास यदि केवल घटनाक्रम है तो इतिहास में कोई प्रगति नहीं होती। इसके उत्तर में हमें घटनाक्रम के महत्व को सिद्ध करना है और उसको, घटनाक्रम में मानव की स्थिति और उसके महत्व के आधार पर किया जा सकता है। यदि मानव की प्रगति को प्रौद्योगिक विकास और उससे उत्पन्न मानव श्रम की उत्पादकता की वृद्धि से आंका जायेगा, तब तो मानव (व्यक्ति) का लोप ही हो जायेगा। बौद्धिक सैनिक अनुशासन और मानव की सृजन शक्ति के मानकीकरण से यदि प्रगति को नापने का प्रयास किया जायेगा तो वह प्रतिक्रिया ही अधिक होगी। सभ्यता का यह एक आशापूर्ण लक्षण है कि वह ऐसी भौतिक स्थितियां उत्पन्न करती है जिसमें स्वतंत्रता के आदर्श को पहुंच के अन्दर लाने की सम्भावना बढ़ जाती है। किसी भी सभ्य समाज में, जिसे समानता के आधार पर संगठित किया गया हो और जिसमें मुक्ति दिलाने वाले दर्शन को स्वीकार किया जाता है तो उसमें व्यक्ति को अपनी क्षमताओं को विकसित करने का अधिक अवसर उपलब्ध होगा। सभ्यता मानव (व्यक्ति) पुरुष और महिला को स्वतंत्रता के मार्ग पर आगे बढ़ाती है। इसी आधार पर उसे प्रगतिशील कहा जायेगा। यह सभ्य पुरुषों और महिलाओं पर आश्रित होगा कि वे अवसरों का कितना उपयोग करने के योग्य हैं। उन लोगों पर मानवों पर लगे बन्धनों को समाप्त करके मानव की स्वतन्त्रता को अधिक व्यापक आधार देने का प्रयास करना चाहिए।

हमने स्वतंत्र भारत के संविधान का मसविदा तैयार किया है जिसका सारांश इन सिद्धान्तों के अन्तिम भाग में दिया गया है। इसमें ऐसे राजनीतिक संगठन की तस्वीर प्रस्तुत की गयी है जो रेडिकलवाद के दर्शन के आधार पर है। लेकिन उसमें इस बात को भी कहा गया है कि जब तक अधिक से अधिक संख्या में लोग इन सिद्धान्तों से प्रेरित नहीं होंगे तब तक उस तस्वीर को व्यावहारिक रूप नहीं दिया जा सकेगा। इसके लिए हम राजनीतिक पार्टी को संगठित कर रहे हैं जो इन विचारों को आगे बढ़ायेगी और जो सामाजिक पुनर्निर्माण के लिए नया रास्ता निकालेगी। पुराने मूल्यों के पुनर्मूल्यांकन और वैज्ञानिक ज्ञान के आधार पर हमने एक नये राजनीतिक सिद्धान्त को स्थापित किया है। उसको व्यवहार में लाने के लिए हमारी राजनीतिक

पार्टी की आवश्यकता है। जिस प्रकार मानव समाज का मूल है उसी आधार पर रेडिकल डेमोक्रेटिक समाज का मूल रेडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी है जिसमें सामूहिक उत्तरदायित्व और व्यक्ति की स्वतंत्रता में परस्पर विरोध नहीं रहेगा। लोग अपने सामाजिक उत्तरदायित्व को स्वयंसेवक के रूप में पूरा करेंगे और स्वतंत्रता की आकांक्षा की पूर्ति व्यक्ति अपनी क्षमताओं को विकसित कर और प्रस्फुटित करके पूरा करेंगे। यह कहने का तात्पर्य है कि व्यक्ति अपने व्यक्तित्व पर जोर देते हुए समाज के सदस्य के रूप में अपनी सामाजिक उपयोगिता बढ़ा कर समाज अथवा समूह के जीवन और प्रगति में अपना योगदान करेगा। सामाजिक स्वाधीनता स्वतंत्र व्यक्ति की विजय होगी और सभी व्यक्तियों को औसत स्वतंत्रता को प्राप्त करने और उसका उपभोग करने की स्वतंत्रता रहेगी। रेडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी में स्वतंत्र पुरुष और महिलाएं सदस्य होंगी। उसमें ऐसे लोग नहीं होंगे जो अपनी स्वतंत्रता को फौजी अनुशासन के नाम पर पार्टी को समर्पित कर दें जो स्वतंत्रता के लिए संघर्ष का दावा करती हो। हम अपने उदाहरण से यह दिखायेंगे कि आरम्भ में पुरुष और महिलाएं जो स्वतंत्र संसार की रचना करने की अभिलाषा रखते हैं वे स्वयं भी आध्यात्मिक दृष्टि से स्वतंत्र हो सकते हैं। यदि अब भी यह समझा जाता है कि स्वतंत्रता समाज के आर्थिक पुनर्निर्माण पर ही आश्रित है तो हमें इस बेकार की अंधी दौड़ से अलग हो जाना चाहिए। क्योंकि क्रांति के पुराने तरीके अब व्यावहारिक नहीं रह गये हैं। भविष्य में समाज अधिक समानता के आधार पर बनेगा और उसी के अनुपात में समाज के सदस्य के रूप में व्यक्ति-पुरुष और महिलाओं को न्याय और समानता के गुणों से सम्पन्न किया जा सकेगा। ऐसे व्यक्तियों को एक स्थान पर एकत्र करने का काम रेडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी को करना पड़ेगा और स्वतंत्र व्यक्ति-पुरुष और महिला, भावी समाज के स्वतंत्र व्यक्तियों के अनुरूप बन सकेंगे।

आज के निराश और पथभ्रष्ट संसार के सामने रेडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी अपने नये राजनीतिक सिद्धान्त और राजनीतिक व्यवहार की मशाल लेकर आयी है। हमने मानव इतिहास के संकट काल में सभ्य मानव जाति के लिए एक नया मार्ग प्रशस्त किया है। हमें इसके सन्देश का प्रचार करना है जो आज के समय की आत्मा का प्रतिनिधित्व करता है। देश के कौने-कौने में और अधिक से अधिक संख्या में लोगों तक हमें इस सन्देश का प्रचार करना है जिस से लोग रेडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी में शामिल हों। देश में रेडिकल डेमोक्रेसी आन्दोलन के बढ़ने से हमारे देश में व्याप्त निराशा का वातावरण बदला

जा सकेगा। भविष्य की आशापूर्ण तस्वीर की आवश्यकता केवल भारतीय जनता के लिए ही नहीं वरन् समस्त मानव जाति के लिए उसकी आवश्यकता है। इसीलिए हम कहते हैं कि हमारा दर्शन विश्वव्यापी मानववाद है। हम कहते हैं कि भारतवासी तब तक स्वतंत्र नहीं हो सकते जब तक कि जर्मनी अथवा रूस के लोग गुलाम रहें। हमारा आदर्श तो विश्व-राज्य की स्थापना, विश्वव्यापी आधार पर मानव भ्रातृत्व और सम्पूर्ण मानव जाति के सहकारी राज्य की स्थापना के रूप में पूरा होगा। हमारा निश्चित मत है कि संसार के वर्तमान संकट को राष्ट्रीय राज्यों की सीमाओं में रह कर सुलझाया नहीं जा सकता। हमने यह देख लिया है कि समाजवाद की स्थापना से भी एक राष्ट्रीय राज्य की स्थापना हुई है। जब एक प्रकार के राष्ट्रीय राज्य थे तो उनमें परस्पर युद्ध होते थे। और अब दो प्रकार के राज्यों की स्थापना होगी तो उनमें विनाशकारी टकराव हो सकता है जिसमें समस्त सभ्यता और समस्त मानव जाति हो नष्ट हो जायेगी।

इसलिए पूंजीवादी और समाजवादी राष्ट्रवाद, दोनों को, दूसरे शब्दों में समष्टि की बलिवेदी पर व्यक्ति की स्वतंत्रता के बलिदान की पद्धति को समाप्त किया जाना चाहिए। स्वतन्त्र समाज की स्थापना स्वतंत्र व्यक्तियों के भ्रातृत्व के आधार पर की जानी चाहिए और उसमें व्यक्तियों के सार्वभौम सत्ता के अधिकार की प्रतिष्ठा होनी चाहिए यही हमारा सन्देश है। कुछ समय तक हमारी आवाज अरण्य रोदन सी प्रतीत होगी लेकिन धीरे-धीरे अधिक लोग उसे सुनेंगे। अब उसका दमन नहीं किया जा सकता और न उसकी उपेक्षा ही की जा सकती है। यह नवस्वतंत्र मानवता की आवाज है और उसकी शक्ति अपराजेय है। आज जब हम भारत में यह आवाज उठा रहे हैं तो यह सभ्य संसार के दूर-दूर के देशों में पहुंच रही है। समय की आत्मा विचारों के एक नये भ्रातृत्व को पैदा कर रही है और समस्त मानव जाति के सामने स्वतंत्रता और प्रगति का नया मार्ग प्रशस्त कर रही है।

रेडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी के बम्बई में आयोजित तीसरे अखिल भारतीय अधिवेशन में 27 दिसम्बर, 1946 को एम. एन. राय का समापन भाषण।

रेडिकल डेमोक्रेसी (उग्र लोकतंत्र)

रेडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी की ओर से पिछले 25 वर्षों से चल रहे मौलिक, दार्शनिक और राजनीतिक सिद्धान्तों का आन्दोलन चलाया जा रहा है। इसी अवधि के अनुभव के आधार पर उनको मूर्तरूप देना अब सम्भव हो गया है। पार्टी के कार्यक्रम और राजनीतिक व्यवहार इन्हीं मौलिक सिद्धान्तों के आधार पर विकसित किये गये हैं। वर्तमान जटिल राजनीतिक परिस्थिति में पार्टी को प्रभावशाली ढंग से काम करके इसके लक्ष्यों को प्राप्त करना है। ये सिद्धान्त रेडिकल डेमोक्रेसी (उग्र लोकतंत्र) आन्दोलन से निकले हैं और उनको विकसित करने में और सूचनाएं एकत्र करने में पार्टी के सदस्यों ने मार्ग निर्देशन किया है। मई, 1946 के देहरादून में अखिल भारतीय राजनीतिक शिविर में सम्बन्धित प्रश्नों पर विचार-विमर्श किया गया और उसके बाद पार्टी के सभी स्तरों पर इन पर विचार-विमर्श चलता रहा। इस विचार-विमर्श के क्रम में अखिल भारतीय रेडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी के बम्बई अधिवेशन में रेडिकल डेमोक्रेसी के मौलिक सिद्धान्तों को स्वीकार कर लिया गया है।

परिशिष्ट दो

रेडिकल डेमोक्रेसी के सिद्धान्त

[1946 के दिसम्बर मास में बम्बई में रेडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी के अखिल भारतीय सम्मेलन में बाईस सिद्धान्तों को स्वीकार किया गया था और बाद में उन्हें 'प्रिंसिपल्स ऑफ रेडिकल डेमोक्रेसी' (रेडिकल डेमोक्रेसी के सिद्धान्त) शीर्षक से प्रकाशित किया गया था। उनमें से सिद्धान्त संख्या 19 और 20 को 1948 में संशोधित किया गया था, जब यह अनुभव किया गया कि मौलिक मानववाद के सिद्धान्तों को स्वीकार करने के बाद रेडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी का पार्टी के रूप में संगठन अनुपयुक्त हो गया है। उसी आधार पर रेडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी को भंग कर दिया गया था। मूल सिद्धान्त संख्या 19 और 20 संशोधन के पूर्व जिस रूप में थे, उनको भी इस परिशिष्ट के अन्त में दिया जा रहा है।]

एक

मानव समाज का मूल आधार है। सामाजिक सहयोग के आधार पर व्यक्तिगत क्षमताओं का विकास होता है लेकिन व्यक्ति का विकास ही सामाजिक प्रगति का माप है। समुदाय के लिए व्यक्तियों का अस्तित्व होना आवश्यक है। व्यक्ति की स्वतंत्रता और कल्याण के बिना सामाजिक स्वतंत्रता और प्रगति काल्पनिक आदर्श हैं, जिनको कभी साकार नहीं बनाया जा सकता। यदि व्यक्तियों का कल्याण वास्तविक है तो व्यक्ति उसका उपभोग करता है। किसी भी भाँति समष्टिगत अहंकार को मानव जाति के किसी समुदाय में प्रतिष्ठित करने से (चाहे वह राष्ट्र, वर्ग आदि के रूप में हो) व्यवहार में मानव का बलिदान हो जाता है। सामुदायिक कल्याण व्यक्तियों के कल्याण के रूप में व्यवहार में आता है।

दो

मानव प्रगति की आकांक्षा में स्वतंत्रता और सत्य की खोज सम्मिलित रहती है। स्वतंत्रता की खोज—उच्च स्तर पर बुद्धि और भावना—मानव में उसके प्राणिगत विकास और अस्तित्व के संघर्ष के क्रम में मानव को प्राप्त होते हैं। सत्य की खोज इसी प्रवृत्ति की सहयोगी वृत्ति है। प्रकृति के अधिकाधिक ज्ञान से मानव प्रकृति के अत्याचार से अपने को मुक्त करता है और अपने लिए उपयोगी भौतिक और सामाजिक वातावरण बनाता है। सत्य ज्ञान का परिमाण है।

तीन

विवेकपूर्ण मानव के प्रयास का उद्देश्य व्यक्तिगत और सुमदाय का कल्याण है। इससे ही स्वतंत्रता लगातार बढ़ती जाती है। मानव की क्षमताओं के प्रतिबंधों का शनैः शनैः लोप ही स्वतंत्रता है। मानव समाज में मानव के व्यक्ति का महत्व है, उसे सामाजिक व्यवस्था का पुर्जा नहीं माना जाना चाहिए। किसी भी सामुदायिक प्रयास और सामाजिक संगठन में व्यक्ति की प्रगति और उसकी स्वतंत्रता के महत्व के आधार पर ही उस समाज की प्रगति को मापा जा सकता है। किसी भी समष्टि के प्रयास में व्यक्तियों को कितना लाभ पहुँचता है, उसी के आधार पर उसकी सफलता को नापा जा सकता है।

चार

नियमबद्ध भौतिक प्रकृति की पृष्ठभूमि में उत्पन्न मानव प्राकृतिक रूप से विवेकशील प्राणी होता है। तर्क शक्ति उसकी शरीरिक क्षमता है जो उसकी इच्छा के विरुद्ध नहीं है। बुद्धि और भावना दोनों को समान शारीरिक आधार पर समझाया जा सकता है। अतः ऐतिहासिक निश्चयवाद से इच्छा की स्वतंत्रता को अलग नहीं किया जा सकता है। वास्तविकता तो यह है कि मानव की इच्छा ही सबसे शक्तिशाली कारक है। अन्यथा विवेक द्वारा निर्धारित ऐतिहासिक प्रक्रिया में क्रान्ति की कोई सम्भावना ही नहीं रहेगी। विवेक और विज्ञान के आधार पर विकसित निश्चयवाद की कल्पना को धार्मिक आधार पर अपनाये जाने वाले भाग्यवाद अथवा नियतिवाद से मिलाकर भ्रम नहीं उत्पन्न किया जाना चाहिए।

पाँच

इतिहास की आर्थिक व्याख्या भौतिकवाद की गलत व्याख्या के आधार पर की जाती है। उसमें द्वैतवाद की कल्पना की जाती है जो एक सत्तात्मक भौतिकवादी दर्शन के विरुद्ध है। इतिहास एक निश्चयात्मक प्रक्रिया है, लेकिन उसके एक से अधिक कारण होते हैं। मानव की इच्छा भी उनमें से एक है और उसे प्रत्यक्ष रूप से किसी आर्थिक प्रेरणा से जोड़ा नहीं जा सकता है।

छह

परिस्थितियों की चेतना प्रक्रिया, जो शरीरिक प्रक्रिया भी है, उससे विचारों का जन्म होता है। लेकिन एक बार विचार के जन्म के बाद उस विचार का अस्तित्व हो जाता है और फिर वह अपने नियमों से नियंत्रित होता

है। विचारों की गतिशीलता सामाजिक विकास प्रक्रिया के समानान्तर रूप से चलती है और वह एक दूसरे को परस्पर प्रभावित करती है। लेकिन मानव विकास क्रम में किसी एक विशेष स्थिति में ऐतिहासिक घटनाओं और विचारों के आन्दोलन के सम्बन्ध को निश्चित रूप से नहीं बताया जा सकता। (विचार का यह प्रयोग सामान्य दार्शनिक अर्थ में सिद्धान्त अथवा विचार पद्धति के अर्थ में किया गया है)। सांस्कृतिक स्वरूप और नैतिक मूल्य केवल सैद्धान्तिक ऊपरी ढांचा नहीं है जो आर्थिक सम्बन्धों के आधार पर बना है। उनका निर्धारण ऐतिहासिक है और विचारों के इतिहासपरक तर्क से उनका निर्धारण होता है।

सात

स्वतंत्र संसार की रचना के लिए क्रान्ति को समाज की आर्थिक व्यवस्था के पुनर्गठन से आगे जाना चाहिए। राजनीतिक सत्ता के अधिग्रहण मात्र से, दलित और उत्पीड़ित वर्गों के नाम से और उत्पादन के साधनों से निजी स्वामित्व को खत्म कर देने से यह जरूरी नहीं है कि समाज स्वतंत्र हो जाय।

आठ

स्वतंत्रता के लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कम्युनिज्म और सोशलिज्म को माध्यम माना जा सकता है। उनसे स्वतंत्रता का लक्ष्य प्राप्त होगा, इस बात को अनुभव से परखना चाहिए। ऐसी राजनीतिक व्यवस्था और आर्थिक प्रयोग की जो हाड़-मांस के मानव को सामूहिक अहंकार, (समष्टि के अहंकार) के अधीन बना दे, उसे स्वतंत्रता प्राप्त करने का माध्यम स्वीकार नहीं किया जा सकता। ऐसा सामूहिक अहंकार राष्ट्र और वर्ग के आधार पर उत्पन्न किया जा सकता है। एक ओर यह कहना कि स्वतंत्रता को नष्ट करने से स्वतंत्रता उत्पन्न होगी, असंगत है। इस प्रकार से व्यक्ति की स्वतंत्रता को काल्पनिक सामूहिक अहंकार की बलिवेदी पर बलिदान कर दिया जाता है। कोई भी सामाजिक दर्शन अथवा समाज के पुनर्निर्माण की योजना, जिसमें मानव के सार्वभौम सत्ता के अधिकार को मान्यता नहीं दी जाती और उसकी व्यक्तिगत स्वतंत्रता को स्वीकार नहीं किया जाता वह छूंछा आदर्श है और उसके द्वारा मानव की प्रगति और क्रान्ति के लिए केवल सीमित उपयोगिता ही हो सकती है।

नौ

राज्य समाज का राजनीतिक संगठन है और कम्युनिज्म में उसके लोप हो जाने की कल्पना, अनुभव से नष्ट हो गयी है। समाज के अधिकार के आधार पर नियोजित अर्थव्यवस्था के लिए भी राजनीतिक तंत्र का अस्तित्व

निश्चित रूप से होना ही चाहिए। इस प्रकार के तंत्र पर नयी व्यवस्था में लोकतांत्रिक नियंत्रण के द्वारा ही स्वतंत्रता को सुरक्षित रखा जा सकेगा। राजनीतिक लोकतन्त्र और व्यक्ति की स्वतंत्रता के आधार पर उपभोग के लिए उत्पादन को नियोजित करना सम्भव हो सकेगा।

दस

उत्पादन के साधनों पर राज्य के स्वामित्व और नियोजित अर्थव्यवस्था को अपना लेने मात्र से श्रमिक का शोषण अपने आप समाप्त नहीं हो जाता और न ऐसा करने से सम्पत्ति का समान वितरण ही होने लगता है। राजनीतिक लोकतंत्र की अनुपस्थिति में आर्थिक लोकतंत्र स्थापित नहीं किया जा सकता और बिना आर्थिक लोकतंत्र के राजनीतिक लोकतंत्र को भी बनाये रखा नहीं जा सकता है।

ग्यारह

अधिनायकवादी तानाशाह में अपने को लगातार सत्ता में रखने की प्रवृत्ति होती है। राजनीतिक अधिनायकवादी तानाशाही में कुशलता, सामुदायिक प्रयास और सामाजिक प्रगति के नाम पर नियोजित आर्थिक व्यवस्था में व्यक्ति की स्वतंत्रता का सम्मान नहीं किया जाता। ऐसी दशा में समाजवादी समाज में लोकतंत्र को अधिक ऊंचे स्तर पर ले जाने की सम्भावना नहीं रहती। तानाशाही उसके घोषित लक्ष्य को नष्ट कर देती है।

बारह

संसदीय लोकतंत्र की बुराइयां भी अनुभव से प्रकट हो चुकी हैं। इस व्यवस्था में जनता की सार्वभौम सत्ता को प्रतिनिधियों को प्रदत्त अधिकार के रूप में दे दिया जाता है। लोकतंत्र को प्रभावशाली बनाने के लिए यह आवश्यक है कि सत्ता जनता में निहित हो और ऐसे साधन होने चाहिए जिनके उपयोग से वह सार्वभौम सत्ता का प्रभावशाली ढंग से उपयोग कर सके। आज की स्थिति में जनता को कुछ अवधि के बाद चुनाव के समय इस अधिकार के उपयोग का अवसर मिलता है। नागरिक समष्टि के हिस्से के रूप में मानव का व्यक्तित्व समाप्त हो जाता है, वह अधिकांश समय सभी उद्देश्यों के लिए शक्तिहीन हो जाता है। उसके पास अपने सार्वभौम सत्ता के अधिकार के उपयोग का कोई साधन नहीं है और शासनतंत्र पर स्थायी रूप से उसका अधिकार नहीं रहता है।

तेरह

संसदीय लोकतंत्र की वैधानिक व्यवस्था ने उदारवाद के आदर्शों को खो दिया है। मुक्त व्यापार की आर्थिक व्यवस्था मानव द्वारा मानव के

शोषण को कानूनी मान्यता देती है। आर्थिक व्यक्ति की भावना व्यक्तिवाद के मुक्तिदायी सिद्धान्त के प्रतिकूल है। इस भ्रष्ट विचार के स्थान पर यह बात स्वीकार की जानी चाहिए कि विवेक मानव का स्वाभाविक गुण है और उसमें नैतिकता तभी हो सकती है जब वह विवेकी हो। नैतिकता अन्तः चेतना को प्रेरित करती है और अन्तः चेतना स्वाभाविक सहज इच्छाओं की चेतना है और परिस्थितियों की उस पर प्रतिक्रिया होती है। यह यांत्रिक शारीरिक प्रक्रिया केवल चेतना के आधार पर प्रकट होती है। अतः यह विवेक है।

चौदह

संसदीय लोकतंत्र का विकल्प अधिनायकवादी तानाशाही नहीं है। उसका विकल्प संगठित लोकतंत्र है जो वैधानिक लोकतांत्रिक व्यवस्था में नागरिक की व्यक्तिगत अशक्तता को समाप्त करती है। संसद को राज्य के ढांचे को सूच्यात्मक शिखर होना चाहिए जिसके आधार में देश भर में संगठित जन समितियों के रूप में संगठित लोकतंत्र की इकाइयां होनी चाहिए। इस प्रकार समाज के राजनीतिक संगठन के रूप में राज्य समस्त समाज के अनुरूप बन जायेगा और परिणामस्वरूप राज्य पर स्थायी रूप से लोकतांत्रिक नियंत्रण हो जायेगा।

पन्द्रह

क्रान्तिकारी और स्वतंत्रता दिलाने वाले सामाजिक दर्शन का मुख्य काम यह है कि वह इतिहास के इस आधारभूत सत्य पर जोर दे कि मानव अपने संसार का निर्माता है। वह विचारशील प्राणी है और वह व्यक्ति के रूप में इन गुणों से युक्त है। मानव का मस्तिष्क उसका प्रधान उत्पादन का साधन है और उससे सबसे क्रान्तिकारी वस्तु उत्पन्न होती है। क्रान्ति के पहले ऐसे विचारों का होना नितान्त आवश्यक है, जो मान्य सिद्धान्तों के आलोचक हों। जब अधिक से अधिक व्यक्ति अपनी इस सृजनात्मक शक्ति के प्रति सजग हो जाते हैं और उनमें संसार के पुनर्निर्माण की अदमनीय प्रेरणा उत्पन्न होती है और विचारों से वे अनुप्राणित होते हैं तथा स्वतंत्र व्यक्तियों के समाज की रचना के आदर्श की भावना अपने में प्रज्ज्वलित कर लेते हैं तो वे ऐसी स्थितियां उत्पन्न कर सकते हैं जिनमें लोकतंत्र को सम्भव बनाया जा सके।

सोलह

सामाजिक क्रांति के तरीके और कार्यक्रम ऐसे होने चाहिए जिनसे सामाजिक प्रगति के मौलिक सिद्धान्तों को पुनः लागू किया जा सके।

स्वतंत्रता और विवेक सम्मत सहकारी जीवन के सिद्धान्तों की शिक्षा के प्रसार के द्वारा जनता में सामाजिक नवजागरण उत्पन्न करने का दृढ़तापूर्वक प्रचार किया जाना चाहिए। क्रान्ति के सफलता के बाद के सामाजिक-राजनीतिक लोकतान्त्रिक संगठनों के आधारभूत संगठनों के माध्यम से नागरिकों को संगठित किया जाना चाहिए। सामाजिक क्रान्ति की सफलता के लिए नये सामाजिक जागरण से अनुप्राणित लोगों की अधिक से अधिक आवश्यकता पड़ेगी। जनसमितियों के गठन और उनको नवजागरण आन्दोलन से संबद्ध करने के लिए उनकी जरूरत पड़ेगी। क्रान्ति के कार्यक्रम को स्वतन्त्रता, तर्क और सामाजिक समरसता के सिद्धान्त के आधार पर विकसित किया जाना चाहिए। उसमें सभी प्रकार के एकाधिकार और सामाजिक जीवन के नियमन में निहित स्वार्थों को समाप्त कर दिया जायेगा।

सत्तरह

मौलिक लोकतन्त्र में समाज का आर्थिक पुनर्गठन होना आवश्यक है जिससे समाज में व्याप्त मानव द्वारा मानव के शोषण की सम्भावना को नष्ट किया जा सके। समाज के सभी व्यक्तियों की भौतिक आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करना उसकी पहली जिम्मेवारी होगी जिससे व्यक्तियों की बौद्धिक और दूसरी मानवीय क्षमताओं के विकास की सम्भावनाएं उत्पन्न की जा सकें। नये आर्थिक पुनर्गठन के द्वारा मानव के जीवन स्तर को धीरे-धीरे ऊंचा उठाने की सुनिश्चित व्यवस्था की जायेगी। मौलिक लोकतांत्रिक राज्य की यही आधारशिला होगी। स्वतंत्रता के लक्ष्य की ओर लगातार अग्रसर होने की पहली शर्त यह है कि मानव आर्थिक रूप से स्वतंत्र हो।

अट्ठारह

नयी सामाजिक व्यवस्था की आर्थिक पद्धति मानव की आवश्यकताओं के परिप्रेक्ष्य में उपयोग के लिए उत्पादन और वितरण पर आश्रित होगी। उसकी राजनीतिक व्यवस्था में सत्ता को प्रदत्त अधिकार के रूप में दूसरे को सौंपने की पद्धति नहीं अपनायी जायेगी क्योंकि ऐसा करने से जनता को उसके अधिकारों से वंचित कर दिया जाता है। उसमें समस्त जनता को प्रत्यक्ष रूप से हिस्सा लेने का अवसर जनसमितियों के माध्यम से दिया जायेगा। उसकी संस्कृति ज्ञान के सार्वदेशिक प्रसार और न्यूनतम नियंत्रण तथा अधिकतम अवसर प्रदान करने तथा वैज्ञानिक और सृजनात्मक प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन देने पर आश्रित होगी। नये समाज की आधारशिला तर्क और विज्ञान होगा और अनिवार्य रूप से वह समाज नियोजित होगा। लेकिन उस योजना में व्यक्ति की स्वतन्त्रता ही उसका मुख्य उद्देश्य होगा। तथा

समाज राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक रूप से लोकतांत्रिक होगा। परिणामस्वरूप वह ऐसा लोकतंत्र होगा जो स्वयं अपनी रक्षा कर सकेगा।

उन्नीस

मौलिक लोकतंत्र, नये स्वतंत्र संसार के निर्माण लिए कटिबद्ध, आत्मिक रूप से स्वतंत्र व्यक्तियों के सामूहिक प्रयास से स्थापित किया जायेगा। वे लोग जनता के शासक की अपेक्षा उसके मार्गदर्शक, मित्र और दार्शनिक होंगे। स्वतंत्रता के लक्ष्य के अनुरूप उसका राजनीतिक व्यवहार विवेक पर आश्रित होगा और इसीलिए वह नैतिक होगा। उनके प्रयास को जनता में स्वतंत्रता की अकांक्षा बढ़ने से बल मिलेगा। अन्ततः मौलिक लोकतांत्रिक राज्य को जाग्रत जनमत और जनता के विवेक जन्य कार्यों से समर्थन मिलेगा। मौलिक लोकतांत्रिक लोगों का यह विचार है कि सत्ता का केन्द्रीयकरण स्वतंत्रता के अनुकूल नहीं है इसलिए मौलिक लोकतांत्रिक लोग सत्ता के केन्द्रीयकरण के लक्ष्य को अपनायेंगे।

बीस

विश्लेषण की अन्तिम बात यह है कि नागरिकों की शिक्षा के बिना समाज का ऐसा पुनर्गठन नहीं किया जा सकेगा, जो व्यक्ति की स्वतंत्रता का अतिक्रमण किये बिना सबके लिए प्रगति और समृद्धि को लाने में सहायक हो। जनसमितियां नागरिकों के लिए राजनीतिक और नागरिक अधिकारों की शैक्षणिक संस्थाओं का काम करेंगी। मौलिक लोकतांत्रिक राज्य सार्वजनिक जीवन में ऐसे निरपेक्ष व्यक्तियों को ला सकेगा जो सत्ता निरपेक्ष होंगे। शासनतंत्र में ऐसे लोगों के आने से वह किसी वर्ग विशेष के हितों के लिए शोषण का साधन नहीं बनेगा। आत्मिक दृष्टि से स्वतंत्र व्यक्तियों के सत्ता में आने से ही गुलामी की श्रृंखलाएं तोड़ी जा सकेंगी और सभी व्यक्तियों के लिए स्वतन्त्रता का नया युग आरम्भ हो सकेगा।

इक्कीस

मौलिकवाद विज्ञान और सामाजिक संगठन अमीर व्यक्ति तथा समष्टि जीवन में सुसम्बद्धता लाता है। वह स्वतंत्रता में नैतिक-बौद्धिक और साथ ही साथ सामाजिक परिमाण को जोड़ता है। वह सामाजिक प्रगति का व्यापक सिद्धान्त प्रस्तुत करता है जिसमें आर्थिक निश्चयवाद का द्वन्द्वात्मक न्याय और विचारों की गतिशीलता को उचित स्थान देकर उनका समावेश किया जाता है। वह इसी पद्धति और कार्यक्रम से हमारे समय की सामाजिक क्रान्ति को पूरा करता है।

बाईस

मौलिकवाद, प्रोटागोरस के उस सिद्धान्त को आधारभूत मानता है जिसमें कहा गया है कि मानव सभी बातों का मापदण्ड है अथवा मानव जाति का मूल मानव (मार्क्स) है वह स्वतन्त्र व्यक्तियों के भाईचारे के आधार पर और नैतिक रूप और आध्यात्मिक रूप से मुक्त मानवों के सामूहिक प्रयास के आधार पर संसार में नया समाज बनाना चाहता है।

परिशिष्ट पर टिप्पणी

आरम्भ में जो सिद्धान्त स्वीकार किये गये थे, उनमें 19 और 20 सिद्धान्त निम्न प्रकार से थे :–

उन्नीस

मौलिक लोकतन्त्र का आदर्श आत्मिक रूप से ऐसे स्वतंत्र व्यक्तियों की राजनीतिक पार्टी द्वारा सामूहिक प्रयास से प्राप्त किया जा सकेगा, जो स्वतंत्र संसार के निर्माण के लिए प्रतिबद्ध हो। ऐसी पार्टी के सदस्य जनता के मार्गदर्शक, मित्र और दार्शनिक के रूप में काम करेंगे न कि उनके शासकों के रूप में। स्वतंत्रता के लक्ष्य के अनुरूप पार्टी का राजनीतिक व्यवहार विवेक और नैतिकता पर आधारित होगा। जनता में जैसे-जैसे स्वतंत्रता की आकांक्षा बढ़ेगी वैसे-वैसे पार्टी का विकास होगा। पार्टी जाग्रत जनमत के समर्थन और जनता के बुद्धिपूर्वक किये गये कार्यों के परिणामस्वरूप सत्ता में आयेगी। यह विचार अपनाने के कारण कि स्वतंत्रता और सत्ता का केन्द्रीकरण परस्पर प्रतिकूल बातें हैं अतः पार्टी सत्ता के विकेन्द्रीकरण के लक्ष्य के अनुरूप काम करेगी। इस प्रक्रिया से वह राजनीतिक सत्ता प्राप्त करने में सफल होगी और इसी तर्क के आधार पर पार्टी राजनीतिक सत्ता का विकेन्द्रीकरण करके ऐसी स्थिति में ले जायेगी जिसमें राज्य पूरे समाज के समान हो जाये।

बीस

विश्लेषण की अन्तिम बात यह है कि समाज के पुनर्गठन के लिए नागरिकों का उन बातों के लिए शिक्षित होना जरूरी है, जो समान प्रगति और समृद्धि में बिना व्यक्तियों की स्वतंत्रता का अतिक्रमण किये, सहायक हों। मौलिक लोकतांत्रिक राज्य जनता के राजनीतिक और नागरिक अधिकारों की शैक्षणिक संस्था का काम करेगा उसके ढांचे और उसकी कार्य पद्धति से सार्वजनिक क्षेत्र में लाभ से मुक्त व्यक्ति सामने आयेंगे। ऐसे व्यक्तियों के समावेश

से राज्यतंत्र किसी वर्ग विशेष के हितों की रक्षा के लिए दूसरों के उत्पीड़न करने का तंत्र नहीं बनेगा । केवल आत्मिक रूप से स्वतंत्र व्यक्ति सत्ता में आने से ही गुलामी की सभी शृंखलाएं तोड़ी जा सकेंगी और सभी व्यक्तियों के लिए स्वतंत्रता का नया युग आरम्भ हो सकेगा ।

एम. एन. राय (मानवेन्द्र नाथ राय)

मानवेन्द्रनाथ राय अनेक दृष्टियों से विलक्षण व्यक्ति थे। उन्होंने क्रान्तिकारी और विचारक के रूप में अपनी विशिष्टता स्थापित की। क्रांतिकारी के रूप में उन्होंने अपनी निष्ठा और प्रतिबद्धता दिखायी। विचारक के रूप में उन्होंने गम्भीर और नये सामाजिक दर्शन का प्रतिपादन किया। उनके राजनीतिक जीवन में तीन चरण दिखायी देते हैं। उन्होंने उग्र राष्ट्रवादी क्रान्तिकारी के रूप में जीवन में प्रवेश किया और बाद में वे उतने ही उग्र कम्युनिस्ट के रूप में सामने आये और अन्त में रेडिकल मानववादी विचारक के रूप में उन्होंने अपना सैद्धान्तिक योगदान किया। उन्होंने रेडिकल मानववाद के दर्शन का प्रतिपादन किया जो भविष्य के लिए सार्थक दर्शनों में से एक सिद्ध हो सकता है।

मानवेन्द्रनाथ राय का जन्म 21 मार्च, 1887 को पश्चिम बंगाल के एक गांव के ब्राह्मण परिवार में हुआ था। उनका मूल नाम नरेन्द्रनाथ भट्टाचार्य था। जब वे 14 वर्ष के थे तब से ही क्रान्तिकारी कार्यों में संलग्न हो गये। वे अनेक राजनीतिक अपराधों और षड्यन्त्र काण्डों से सम्बन्धित थे। यतीन मुखर्जी के नेतृत्व में उन्होंने अपने सहयोगियों के साथ ब्रिटिश राज्य को उखाड़ने के लिए सशस्त्र क्रान्ति की योजना बनायी थी। जब प्रथम महायुद्ध शुरू हुआ, उस समय जर्मन दूतों से भारतीय क्रान्तिकारियों के लिए शस्त्रास्त्र पाने का वचन लिया गया। 1915 में राय जर्मनी से शस्त्रास्त्र लेने के लिए जावा गये। उस योजना के विफल हो जाने के बाद उन्हें दुबारा जावा भेजा गया। उसके बाद शस्त्रास्त्रों को पाने के प्रयास में एक देश से दूसरे देशों में गये। इस बीच में उन्होंने अनेक छद्म नामों से जावा से जापान, जापान से चीन, चीन से पुनः जापान की यात्रा की और फिर जून 1916 में सैनफ्रांसिस्को पहुंचे। उसके कुछ समय बाद अमरीका मित्र राष्ट्रों के पक्ष में युद्ध में शामिल हो गया। राय और कुछ अन्य भारतीयों के विरुद्ध सैनफ्रांसिस्को में एक षड्यन्त्र काण्ड चलाया गया। राय अमरीकी पुलिस को चकमा देकर मैक्सिको भाग गये। इस अवधि में उन्होंने समाजवाद और कम्युनिज्म का अध्ययन किया था और समाजवाद से प्रभावित हो गये थे।

मैक्सिको में उन्होंने मैक्सिकन सोशलिस्ट पार्टी की सदस्यता ले ली और वे उसके संगठन मंत्री बनाये गये। उन्होंने पार्टी के संगठन का विस्तार किया और उसे सुदृढ़ बनाया। वे उसके जनरल सेक्रेटरी चुने गये। एक विशेष अधिवेशन में उन्होंने मैक्सिकन सोशलिस्ट पार्टी को कम्युनिस्ट पार्टी का रूप दिया। इस प्रकार सोवियत संघ के बाहर पहली कम्युनिस्ट पार्टी के वे संस्थापक बने।

राय को कम्युनिस्ट अन्तर्राष्ट्रीय संघ की दूसरी कांग्रेस में भाग लेने के लिए मास्को आमन्त्रित किया गया। वह कांग्रेस जुलाई-अगस्त, 1920 में होने वाली थी। उस अधिवेशन से पहले राय मास्को पहुंच गये और वहां उपनिवेशों—भारत और चीन—के स्वाधीनता आन्दोलन के सम्बन्ध में विचार-विनिमय किया। राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलनों में उपनिवेशों के पूंजीवादी वर्गों की भूमिका के प्रश्न पर राय का लेनिन से मतभेद था। लेनिन के सुझाव पर राष्ट्रीय और उपनिवेशों के स्वाधीनता आन्दोलनों के सम्बन्ध में लेनिन की थीसिस के साथ राय की थीसिस भी कम्युनिस्ट अन्तर्राष्ट्रीय संघ की दूसरी कांग्रेस में पेश की गयी। कांग्रेस में उन दोनों सिद्धान्त पत्रों (थीसिसों) को स्वीकार किया गया।

कम्युनिस्ट अन्तर्राष्ट्रीय संघ की नीति निर्धारक समितियों में राय को उच्च स्थान प्रदान किया गया। उस समय उनका मुख्य कार्य भारत में कम्युनिस्ट आन्दोलन विकसित करना था उन्होंने भारत में अनेक कम्युनिस्ट नेताओं और साहित्य को भिजवाने की व्यवस्था की। उनकी गणना भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के संस्थापक के रूप में की जाती है।

1927 से स्टालिन ने रूसी कम्युनिस्ट पार्टी और कम्युनिस्ट अन्तर्राष्ट्रीय संघ से ऐसे स्वतन्त्र विचारक नेताओं का सफाया करने का अभियान शुरू करने की नीति अपनायी। उन नीतियों का शिकार राय को भी बनाया। राय ने जर्मन कम्युनिस्ट अपोजिशन के पत्रों में कुछ लेख लिखे जिनमें कम्युनिस्ट अन्तर्राष्ट्रीय संघ की कुछ नीतियों की आलोचना की गयी। इस अभियोग में राय को 1929 में कम्युनिस्ट अन्तर्राष्ट्रय संघ से निकाल दिया गया।

राय ने तब भारत लौटने का निश्चय किया। वे यह जानते थे कि भारत में गिरफ्तार किये जायेंगे और लम्बी अवधि का कारावास उन्हें दिया जायेगा। 1924 के कानपुर षड़यन्त्र कण्ड के वे प्रमुख थे, लेकिन भारत से बाहर होने के कारण उन पर मुकदमा नहीं चल सका था। भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन में भाग लेने के उद्देश्य से उन्होंने भारत लौटना और लम्बी सजा भोगना स्वीकार किया।

राय दिसम्बर 1930 में छद्म रूप में भारत लौटे और जुलाई, 1931 में गिरफ्तार किये गये। कानपुर षड्यन्त्र काण्ड का मुकद्मा चला जिसमें उन पर यह अभियोग था कि उन्होंने ब्रिटिश सरकार को उखाड़ने के लिए षड्यन्त्र किया था। उन्हें सेशन अदालत से 12 वर्ष के कठोर कारावास का दण्ड दिया गया जो बाद में अपील में घट कर 6 वर्ष का रह गया।

अपनी सजा पूरी करने के बाद मानवेन्द्र नाथ राय 20 नवम्बर, 1936 को जेल से रिहा कर दिये गये। रिहाई के बाद उन्होंने एक वक्तव्य द्वारा जनता से भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में लाखों की संख्या में शामिल होने की अपील की इसके साथ ही उन्होंने यह स्पष्ट किया कि राष्ट्रीय आन्दोलन को तब तक सुदृढ़ नहीं बनाया जा सकता जब तक कि उसको उग्रवादी और लोकतान्त्रिक न बनाया जाय। उनका कहना था कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को गाँव और ताल्लुका कांग्रेस कमेटियों के रूप में नीचे से संगठित किया जाना चाहिए। कांग्रेस को लोकतान्त्रिक स्वतन्त्रता के साथ-साथ कृषि सम्बन्धों में उग्र सुधार लाने के लिए सामाजिक-आर्थिक कार्यक्रम को अपनाना चाहिए। उनका विचार था कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को गांव और ताल्लुका कांग्रेस कमेटियों के विस्तृत आधार पर संगठित किया जाना चाहिए। उनकी योजना थी कि उपयुक्त समय आने पर कांग्रेस को वैकल्पिक राज्य का रूप ग्रहण करके संविधान सभा को बुलाना चाहिए, जो स्वतन्त्र भारत के लिए संविधान बनाये। संविधान सभा को बुलाना ही लोकतान्त्रिक स्वतन्त्रता के लिए भारतीय क्रान्ति का सूत्रपात करना होगा।

मानवेन्द्र नाथ राय के उग्रवादी कार्यक्रम के आधार पर उनके अनुयायियों ने ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों में काम करना शुरू किया। दो वर्ष के भीतर उनके प्रभाव की गणना होने लगी थी। 1940 में राय और उनके सहयोगियों को भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को छोड़ना पड़ा क्योंकि द्वितीय महायुद्ध में भारत की भूमिका के सम्बन्ध में गम्भीर मतभेद हो गया था।

द्वितीय महायुद्ध की आरम्भिक अवधि में जब युद्ध सम्बन्धी बयानबाजी हो रही थी, उसके समाप्त होने पर जब अप्रैल, 1940 में नाजी सेनाओं ने फ्रांस पर आक्रमण किया उस समय राय ने द्वितीय महायुद्ध को फासिस्ट विरोधी युद्ध घोषित किया और उनका कहना था कि लोकतन्त्र को बचाने के लिए यह आवश्यक है कि हर कीमत पर मित्र-राष्ट्रों का समर्थन किया जाय। 'यदि यूरोप में फासिज्म सफल हो जाता है तो क्रान्ति और भारतीय स्वतन्त्रता की सम्भावना ही मिट जायेगी।' राय ने उस समय विश्वास के साथ यह भविष्य-

वाणी की थी कि फासिज्म की पराजय से साम्राज्यवाद भी कमजोर होगा और उसकी परिणति के रूप में भारत लोकतान्त्रिक स्वतन्त्रता के निकट पहुँच जायेगा।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के नेताओं का मत उससे भिन्न था। उन्होंने यह घोषणा की कि भारतीय जनता युद्ध प्रयासों में तब ही सहयोग देगी जबकि ब्रिटिश सरकार भारत में राष्ट्रीय सरकार की स्थापना के लिए तैयार होगी, जिसको भारत की सुरक्षा और वैदेशिक मामलों पर पूरा स्वायत्त अधिकार होगा। राय ने शर्त के साथ सहयोग देने की बात को अस्वीकार किया क्योंकि उसका अभिप्राय यह था कि युद्ध प्रयासों का विरोध किया जाय यदि सरकार उनकी शर्तों को न माने। राय ने यह तर्क दिया कि भारत की लोकतान्त्रिक स्वतन्त्रता के लिए फासिस्ट विरोधी युद्ध में मित्रराष्ट्रों की विजय आवश्यक है अतः हम उसमें सहयोग करने के लिए शर्तें नहीं रख सकते। इस मतभेद के कारण ही राय और उनके सहयोगियों ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस छोड़ने और अलग नयी पार्टी की स्थापना करने का निश्चय किया। दिसम्बर, 1940 में इसी आधार पर रेडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी की स्थापना की गयी।

दिसम्बर, 1942 में ही राय ने यह विचार व्यक्त किया था कि फासिस्ट शक्तियों की द्वितीय महायुद्ध में पराजय निश्चित है और मित्रराष्ट्रों तथा ब्रिटेन में हो रहे सामाजिक-आर्थिक परिवर्तनों के कारण युद्ध के बाद भारत का स्वतन्त्र होना अवश्यम्भावी है। राय की यह भविष्यवाणी सत्य सिद्ध हुई। इतिहासकार इस बात पर सहमत हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय फासिज्म की पराजय के कारण स्वतन्त्र शक्तियों के प्रभाव के परिणामस्वरूप भारत को राष्ट्रीय स्वतन्त्रता प्राप्त हुई है।

राय को जब यह स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगा कि युद्ध में फासिस्ट शक्तियों की पराजय निश्चित हो गयी है तो उन्होंने युद्धोत्तर काल में भारत के पुनर्निर्माण की समस्या की ओर ध्यान दिया। उन्होंने 1943 और 1944 में क्रमशः भारतीय आर्थिक विकास के लिए 'जन योजना' और 'स्वतन्त्र भारत के संविधान का मसविदा' तैयार कराया। इन दस्तावेजों के द्वारा राय ने देश की आर्थिक और राजनीतिक समस्याओं को अपना मौलिक योगदान किया। उस समय प्रचलित आर्थिक विचारों के विपरीत राय ने 'जन योजना' में देश के कृषि विकास और लघु उद्योगों के विकास पर जोर दिया। 'जन योजना'

के अन्तर्गत उत्पादन का लक्ष्य उपभोग की पूर्ति करना था और उसका उद्देश्य लाभ अर्जित करना नहीं था। आर्थिक योजना का उद्देश्य जनता की मौलिक आवश्यकताओं, भोजन, मकान, वस्त्र, शिक्षा और चिकित्सा की आवश्यकताओं को पूरा करना था। स्वतन्त्र भारत के संविधान के मसविदे के अनुसार भारतीय राज्य को देश भर में संगठित जन समितियों के आधार पर संगठित करना था। उन समितियों को कानून बनाने, विचाराधीन अधिनियमों पर अपना मत प्रकट करने और महत्वपूर्ण राष्ट्रीय मसलों पर जनता का अभिमत प्राप्त करने का अधिकार देने का प्रस्ताव था। जन प्रतिनिधियों को वापस बुलाने का भी अधिकार मसविदे में रखा गया था। जयप्रकाश नारायण ने बाद में जन समितियों को संगठित करने के लिए जिस विचार का प्रचार किया वह राय द्वारा प्रस्तावित स्वतन्त्र भारत के संविधान के मसविदे से ही लिया गया है।

युद्ध के समाप्त होने के बाद राय ने कम्युनिज्म और मार्क्सवाद के सिद्धान्तों के प्रतिकूल अपने विचारों को प्रकट करना शुरू किया। मार्क्सवाद से मानव इतिहास में विचारों की भूमिका और नैतिक मर्यादाओं के प्रश्न पर राय ने भिन्न मत व्यक्त किये। उन्होंने जो दार्शनिक सिद्धान्त प्रतिपादित किये हैं उनको ही रेडिकल मानववाद के बाईस आधारभूत सिद्धान्तों के रूप में रखा गया है। उन्होने 'नव मानववाद' का घोषणा-पत्र भी जारी किया।

बाईस सिद्धान्तों के द्वारा रेडिकल मानववाद का व्यक्तिगत और सामाजिक दर्शन का प्रतिपादन किया गया है। स्वतन्त्रता, विवेक और नैतिकता को इन सिद्धान्तों में मानव के शारीरिक विकास से उद्भूत बताया गया है। यह भी दिखाया गया है कि स्वतंत्रता की चाह और सत्य की खोज मानव के विकास में निहित है। इन सिद्धान्तों से इस बात पर जोर दिया गया है कि राजनीतिक और आर्थिक स्वतन्त्रता को अलग नहीं किया जा सकता है और यह भी बताया गया है कि किस प्रकार राजनीतिक और आर्थिक स्वतंत्रता को प्राप्त किया जा सकता है।

इन बाईस सिद्धान्तों और घोषणा-पत्र की बहस के बाद राय इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि लोकतन्त्र के आदर्श से दलगत राजनीति का मेल नहीं होता है और उसके सत्तामूलक राजनीति में गिर जाने का खतरा रहता है। राय का यह विचार था कि लोकतन्त्र में सत्ता जनता के मौलिक संगठनों विशेष रूप से जन समितियों में निहित रहनी चाहिए और उस पर राजनीतिक दल का प्रभुत्व नहीं होना चाहिए। उनका यह भी विचार था कि भारत जैसे देश में,

जहां अधिकांश मतदाता अशिक्षित हैं, उसमें दलगत राजनीति सत्ता के लिए सिद्धान्तहीन लड़ाई का रूप ले लेगी। इन्हीं विचारों के कारण रेडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी के कलकत्ता में हुए अखिल भारतीय अधिवेशन में दिसम्बर, 1948 में पार्टी को समाप्त कर दिया गया और रेडिकल मानववादी आंदोलन के सूत्रपात की घोषणा की गयी।

राय ने रेडिकल मानववादी सिद्धान्तों के दौर में जो नये विचार विकसित किये उनमें सहकारिता के आधार पर आर्थिक व्यवस्था को संगठित करने का विचार महत्वपूर्ण है। सहकारी आर्थिक व्यवस्था में उत्पादन के साधनों पर न पूंजीपतियों का स्वामित्व रहेगा और न राज्य का उन पर स्वामित्व होगा। उन पर श्रमिकों का अधिकार होगा। राय का यह विचार था कि सहकारी अर्थव्यवस्था पूंजीवादी और राज्य के स्वामित्व वाली दोनों व्यवस्थाओं से उच्चकोटि की है।

राय महान बौद्धिक व्यक्ति थे। उनमें निरन्तर नये विचारों का स्रोत बना रहता था। उन्होंने अपने समस्त जीवन में अपनी मेधा का उपयोग स्वतन्त्रता के आदर्श के लिए किया। स्वतन्त्रता से वे निरन्तर प्रेरणा लेते थे और उन्होंने अपने सम्पूर्ण जीवन में इन्हीं आदर्शों का पालन किया।

फिलिप स्प्रैट

फिलिप स्प्रैट 1929 में मेरठ कम्युनिस्ट षड्यन्त्र में एक अभियुक्त थे। राय स्वयं उसी अवधि में कानपुर षड्यन्त्र काण्ड के प्रमुख अभियुक्त माने गये थे। स्प्रैट इंग्लैण्ड के निवासी थे और ब्रिटिश कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य थे। 1926 में 24 वर्ष की आयु में वे भारत में साम्राज्यवाद विरोधी गुटों को संगठित करने के लिए यहां आये। 1936 में अपनी रिहाई के बाद फिलिप स्प्रैट भारत में ही बस गये। बाद में उन्होंने बंगलौर से 'माईस इण्डिया' नामक साप्ताहिक पत्र प्रकाशित किया। बाद में मद्रास से प्रकाशित 'स्वराज्य' नामक साप्ताहिक पत्र के सम्पादक बने। स्प्रैट राय के घनिष्ठ मित्र थे और रेडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी के सक्रिय सदस्य थे। वह मार्क्सवाद

के अन्ध अनुयायी नहीं थे। दूसरे महायुद्ध के तुरन्त बाद वे 'मानववाद' सिद्धान्त की और आकृष्ट हुए और वे स्वयं इस सिद्धान्त के प्रमुख प्रतिपादक बन गये। उन्होंने अनेक पुस्तकें लिखीं जिनमें 'गांधीवाद एन ऐनालिसिस' और 'ए न्यू लुक ऑन मार्क्सिज्म' प्रमुख हैं। उनका देहान्त 1969 में हो गया।

जहां अधिकांश मतदाता अशिक्षित हैं, उसमें दलगत राजनीति सत्ता के लिए सिद्धान्तहीन लड़ाई का रूप ले लेगी। इन्हीं विचारों के कारण रेडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी के कलकत्ता में हुए अखिल भारतीय अधिवेशन में दिसम्बर, 1948 में पार्टी को समाप्त कर दिया गया और रेडिकल मानववादी आंदोलन के सूत्रपात की घोषणा की गयी।

राय ने रेडिकल मानववादी सिद्धान्तों के दौर में जो नये विचार विकसित किये उनमें सहकारिता के आधार पर आर्थिक व्यवस्था को संगठित करने का विचार महत्वपूर्ण है। सहकारी आर्थिक व्यवस्था में उत्पादन के साधनों पर न पूंजीपतियों का स्वामित्व रहेगा और न राज्य का उन पर स्वामित्व होगा। उन पर श्रमिकों का अधिकार होगा। राय का यह विचार था कि सहकारी अर्थव्यवस्था पूंजीवादी और राज्य के स्वामित्व वाली दोनों व्यवस्थाओं से उच्चकोटि की है।

राय महान बौद्धिक व्यक्ति थे। उनमें निरन्तर नये विचारों का स्रोत बना रहता था। उन्होंने अपने समस्त जीवन में अपनी मेधा का उपयोग स्वतन्त्रता के आदर्श के लिए किया। स्वतन्त्रता से वे निरन्तर प्रेरणा लेते थे और उन्होंने अपने सम्पूर्ण जीवन में इन्हीं आदर्शों का पालन किया।

फिलिप स्प्रैट

फिलिप स्प्रैट 1929 में मेरठ कम्युनिस्ट षड्यन्त्र में एक अभियुक्त थे। राय स्वयं उसी अवधि में कानपुर षड्यन्त्र काण्ड के प्रमुख अभियुक्त माने गये थे। स्प्रैट इंग्लैण्ड के निवासी थे और ब्रिटिश कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य थे। 1926 में 24 वर्ष की आयु में वे भारत में साम्राज्यवाद विरोधी गुटों को संगठित करने के लिए यहां आये। 1936 में अपनी रिहाई के बाद फिलिप स्प्रैट भारत में ही बस गये। बाद में उन्होंने बंगलौर से 'माईस इण्डिया' नामक साप्ताहिक पत्र प्रकाशित किया। बाद में मद्रास से प्रकाशित 'स्वराज्य' नामक साप्ताहिक पत्र के सम्पादक बने। स्प्रैट राय के घनिष्ठ मित्र थे और रेडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी के सक्रिय सदस्य थे। वह मार्क्सवाद

के अन्ध अनुयायी नहीं थे। दूसरे महायुद्ध के तुरन्त बाद वे 'मानववाद' सिद्धान्त की ओर आकृष्ट हुए और वे स्वयं इस सिद्धान्त के प्रमुख प्रतिपादक बन गये। उन्होंने अनेक पुस्तकें लिखीं जिनमें 'गांधीवाद एन ऐनालिसिस' और 'ए न्यू लुक ऑन मार्क्सिज्म' प्रमुख हैं। उनका देहान्त 1969 में हो गया।